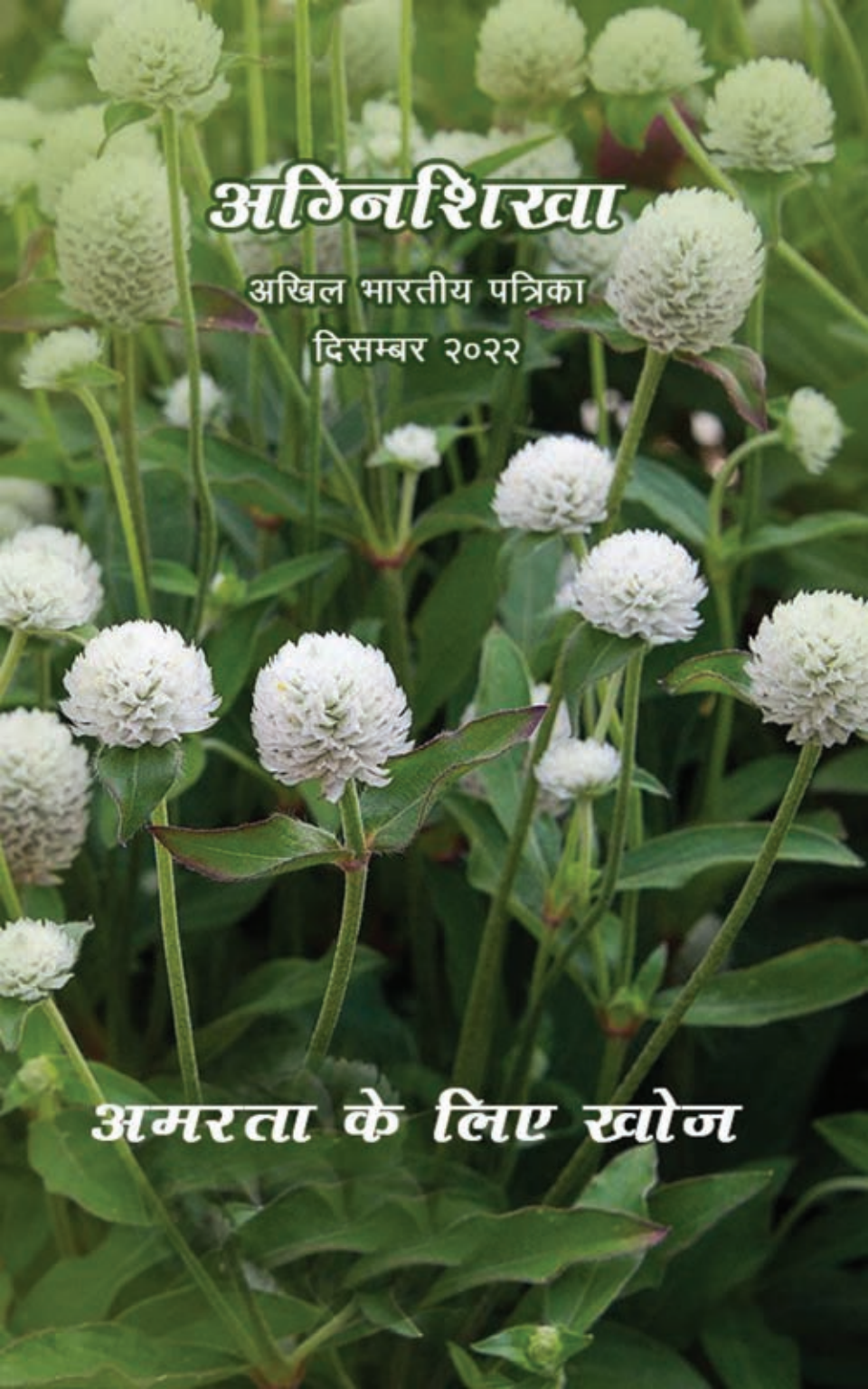

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

दिसम्बर २०२२

अमरता के लिए खोज

अग्निशिखा दिसम्बर २०२२ वर्ष ५३, अंक ५, पूर्णांक ६२८

विषय-सूची

अमरता के लिए खोज
(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
मृत्यु का भय और उस पर विजय प्राप्त करने के साधन	५
क्या है अमरता	१२
प्राचीन धर्मग्रन्थों में अमरता का उल्लेख	२०

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		३८
नानी माँ	डॉ. सविता मिश्रा	४०

अग्निशिखा
श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका
वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.
संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी
मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस
प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी
प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१
मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत
सम्पादिका : वन्दना
Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70
दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८
Email: info@aurosociety.org
Website: www. aurosociety.org

सन्देश

जन्म से मरण तक, जीवन एक ख़तरनाक चीज़ है।

साहसी इसमें से ख़तरों की परवाह किये बिना गुज़र जाते हैं।

सावधान सतर्कता से काम करता है।

भीरु सभी चीज़ों से डरते हैं।

लेकिन अन्त में, हर एक के साथ होता वही है जो परम संकल्प ने निश्चित किया हो। **श्रीमाँ**

सम्पादकीय :

जीवन और मृत्यु

जीवन, मृत्यु,—मृत्यु, जीवन—ये दो शब्द जो हमारे विचार और हमारी चेतना में रच-बस गये हैं—एक-दूसरे से एकदम उलटे प्रतीत होते हैं, मानों इनके बीच ३६ का आँकड़ा हो...

लेकिन अब मानों बहुत समय से भूले-बिसरे पन्ने हमारे सामने खुल गये हैं; जिन्होंने स्वप्नातीत सत्य को उजागर कर दिया है। और वह यह है—

केवल जीवन का अस्तित्व है, मृत्यु मुखौटा लगाये जीवन ही है। जीवन तब तक एक लघु मृत्यु है जब तक कि शाश्वत जीवन आकर हमें चौंका नहीं देता।

हमारा यह अंक कोविड के समय on line दिसम्बर २०२० में निकला था। तब सम्भवतः बहुत इसे पढ़ न पाये हों, इसी वजह से अब सामान्य काल में हम इसे पत्रिका के रूप में भी छाप रहे हैं ताकि अधिकाधिक इसका लाभ उठा सकें।

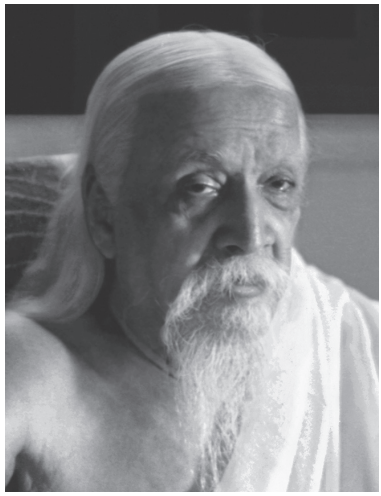

मृत्यु का भय

हमारे जीवनों में मृत्यु स्वेच्छा से करती है विचरण,
सौम्य 'मृत्यु' की व्यस्तता है हमारी साँस का हर अन्तर्ग्रहण।
तुम क्यों भय खाते हो उससे? देखो, उसका हँसता मुखमण्डल
प्रकाश से पूरी तरह अरुणिम, श्रीमय प्रफुल्ल!
वसन्तकालीन, फुहारों से हरा-भरा उपवन सुन्दर
उसमें फूल बीनती एक कुमारिका सदय, प्रीतिकर,
उससे तुम डरते हो, तरुणी द्वारपालिका दीप्त-प्रसन्न
जो खोलती है हमारी आत्माओं के लिए, प्रकाश के भुवन।
क्या यह भय इस कारण है कि आकुञ्चित वृन्त को सहन
करनी पड़ती पीड़ा, जब कोमलतम करों से होता उसकी शोभा का अपहरण?
क्या इसलिए, कि पुष्पहीन डण्ठल कुम्हला कर हो जाता शिथिल
और हो जाता असुन्दर जो अब तक था इतना मनोज्ञ मञ्जुल?
या यह है खुलते प्रवेश-द्वार का कर्कश ध्वनि-घर्षण,
साहस-शून्य निर्बल प्राणियो, जो भर देता तुममें भय-कम्पन?
मृत्यु है केवल हमारे वस्त्रों का परिवर्तन, एक प्रतीक्षा
वैवाहिक परिधान में 'शाश्वत सत्ता' के द्वार पर।

CWSA खण्ड २, पृ. २१९ **श्रीअरविन्द**

मृत्यु का भय और
उस पर विजय प्राप्त करने के साधन

... मानव-प्रगति को रोकने वाली सबसे बड़ी बाधा शायद भय है; भय के रूप विविध तथा असंख्य होते हैं, वह स्व-विरोधी, तर्कहीन, अनुचित और प्रायः अविवेकी होता है। मृत्यु का भय सब प्रकार के भयों में सबसे अधिक सूक्ष्म और हठीला होता है। उसकी जड़ें अचेतना तक में गहरी पैठी होती हैं और वहाँ से उन्हें उखाड़ फेंकना आसान नहीं होता। स्पष्ट है कि यह भय कई मिश्रित तत्त्वों से बना होता है; ये चीज़ें हैं, स्थायित्व की भावना, आत्म-रक्षा की चिन्ता जिसका भाव होता है कि चेतना का सूत्र लगातार सुनिश्चित रूप से चलता रहे, अज्ञात के प्रति घबराहट, अप्रत्याशित और अदृष्ट से उत्पन्न उद्वेग और शायद इस सबके पीछे कोषाणुओं की गहराई में छिपी हुई यह सहज भावना काम करती है कि मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे बचा न जा सके और यह भी कि यदि कुछ शर्तें पूरी की जा सकें तो उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है; यद्यपि यह सत्य है कि स्वयं भय ही इस विजय के मार्ग में एक भारी बाधा है। कारण, हम उसी पर विजय प्राप्त कर सकते हैं जिससे हम डरते नहीं, और जो मृत्यु से डरता है वह पहले से ही मृत्यु के द्वारा विजित हो चुका है।

इस भय से कैसे छुटकारा पाया जाये? इसके लिए कई तरीक़े काम में लाये जा सकते हैं। किन्तु अपने इस प्रयास के प्रारम्भ में ही कुछ सहायक मूलभूत विचारों को जान लेना आवश्यक है। पहली और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह जान लेना है कि जीवन अविभाज्य और अमर है, बस, उसके रूप अनगिनत होते हैं और वे रूप ही क्षणिक तथा नाशवान् होते हैं। यह ज्ञान व्यक्ति को अपने मन में निश्चित और स्थायी रूप से जमा लेना चाहिये और यथासम्भव अपनी चेतना को उस नित्य जीवन के साथ एकात्म कर लेना चाहिये जो सब रूपों से स्वतन्त्र है, पर फिर भी अपने-आपको सब रूपों में अभिव्यक्त करता है। इससे हमें यह आवश्यक मनोवैज्ञानिक आधार मिल जाता है जहाँ से समस्या का सामना किया जा सकता है, क्योंकि समस्या तो है ही। आन्तरिक सत्ता यदि इतनी पर्याप्त मात्रा में आलोकित हो भी जाये कि वह सब भयों से ऊपर उठ जाये, फिर

भी शरीर के कोषाणुओं में भय छिपा ही रहेगा, अस्पष्ट और स्वतःचालित रूप में, बुद्धि की पकड़ से परे, प्रायः अचेतन-सा। इन्हीं अँधेरी गहराइयों में से व्यक्ति को उसे ढूँढ़ निकालना होगा, पकड़ना होगा और उस पर चेतना तथा विश्वास का प्रकाश डालना होगा।

जीवन का नाश नहीं होता, रूप विघटित होते हैं

इसलिए, जीवन का नाश तो नहीं होता, रूप अवश्य विघटित हो जाता है और शारीरिक चेतना इसी विघटन से भय खाती है। फिर भी, रूप लगातार परिवर्तित होते रहते हैं और कोई भी वस्तु इस परिवर्तन को प्रगतिशील होने से नहीं रोक सकती। यह प्रगतिशील परिवर्तन ही इस बात को सम्भव कर सकता है कि मृत्यु अनिवार्य न हो; पर यह कार्य है कठिन, और इसकी शर्तें बहुत कम लोग पूरी कर सकते हैं। इस प्रकार मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने की विधि व्यक्ति के स्वरूप या उसकी चेतना की अवस्था के अनुसार, भिन्न-भिन्न होगी। इन विधियों को चार प्रमुख श्रेणियों में बाँट सकते हैं और प्रत्येक श्रेणी में अनेक भेद-विभेद भी होंगे; सच तो यह है कि प्रत्येक को ही अपनी प्रणाली अपने-आप विकसित करनी होगी।

भय का पता लगाओ

पहली विधि तर्क-बुद्धि से सम्बन्ध रखती है। यह कहा जा सकता है कि संसार की वर्तमान अवस्था में मृत्यु अनिवार्य है; प्रत्येक शरीर जो जन्म लेता है, एक-न-एक दिन अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा, और क़रीब-क़रीब सभी की मृत्यु तभी आती है जब उसे आना होता है; उसकी घड़ी को न कोई टाल सकता है और न कोई जल्दी ही ला सकता है। जो उसकी कामना करता है उसे इसे पाने के लिए कभी-कभी बहुत लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और जो उससे डरता है वह, सब सावधानियाँ बरतते हुए भी, अचानक उसका ग्रास बन जा सकता है। मृत्यु की घड़ी अटल रूप में नियत की हुई प्रतीत होती है, इसके अपवाद बहुत थोड़े-से लोग होते हैं जिनमें वे शक्तियाँ होती हैं जो कि साधारण मानवजाति में नहीं पायी जातीं। तर्क-बुद्धि यह सिखाती है कि जिस चीज़ से बचा नहीं जा सकता उससे डरना मूर्खता है। उपाय एक ही है, वह यह कि इस तथ्य

को स्वीकार कर लिया जाये और दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण मनुष्य वही करे जो अच्छे-से-अच्छा कर सकता है, इसकी चिन्ता न करे कि आगे क्या होगा। यह प्रक्रिया उन बुद्धिवादियों के लिए अत्यन्त फलदायी होती है जो तर्क-बुद्धि के नियमों के अनुसार काम करते हैं; किन्तु जो भावुक लोग अपनी भावनाओं में निवास करते हैं और उन्हीं के द्वारा सञ्चालित होते हैं, उनमें यह कम फलप्रद सिद्ध होगी।

चैत्य सत्ता की खोज

निःसन्देह, इन लोगों को दूसरी विधि अपनानी चाहिये, वह है आन्तरिक खोज की। सब भावों से परे, हमारी सत्ता की नीरव और शान्त गहराइयों में एक प्रकाश सदा प्रकाशमान रहता है, यह है अन्तरात्मा की चेतना का प्रकाश। इस प्रकाश को खोजो, इस पर एकाग्र होओ; यह तुम्हारे अन्दर ही है। दृढ़ संकल्प के द्वारा तुम निश्चय ही यह प्रकाश पाओगे और ज्यों ही तुम उसमें प्रवेश पाओगे, त्यों ही तुम अमरता की अवस्था के प्रति जाग्रत् हो जाओगे। तुम अनुभव करोगे कि तुम सदा ही जीवित रहे हो और सदा ही जीवित रहोगे; उस अवस्था में तुम अपने शरीर से पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाते हो; तुम्हारा चेतन अस्तित्व उस पर आश्रित नहीं रहता; और यह शरीर तो बहुत-से नाशवान् रूपों में से एक है जिनके द्वारा तुमने अपने-आपको अभिव्यक्त किया है। तब मृत्यु विनाश की अवस्था नहीं रहती, वह केवल संक्रमण की एक अवस्था हो जाती है। तत्काल ही समस्त भय भाग जाता है और तुम मुक्त पुरुष की शान्त निश्चयता के साथ जीवन में आगे बढ़ते हो।

श्रद्धा की विधि

तीसरी विधि उन लोगों के लिए है जो एक दिव्य अस्तित्व में—जिसे वे अपना भगवान् कहते हैं—श्रद्धा रखते हैं और जिसे वे अपने-आपको उसे समर्पित कर चुके होते हैं। वे लोग पूर्णतया उसी के होते हैं, उनके जीवन की सभी घटनाएँ भागवत इच्छा की अभिव्यक्ति होती हैं, इन घटनाओं को वे केवल एक शान्त समर्पण-भाव से ही नहीं, बल्कि कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं, कारण, उन्हें यह विश्वास रहता है कि जो कुछ भी उनके साथ घटता है वह सदा ही उनके भले के लिए होता है। उन्हें अपने भगवान् में

तथा उसके साथ अपने वैयक्तिक सम्बन्ध में एक प्रकार का गुह्य विश्वास होता है। उन्होंने अपनी इच्छा पूर्ण रूप से भगवान् की इच्छा को अर्पित कर दी होती है और वे उसके अटल प्रेम और संरक्षण को अनुभव करते हैं, जीवन और मृत्यु की आकस्मिक घटनाओं से पूरी तरह से अप्रभावित। उनके अन्दर सदा यह अनुभूति रहती है कि वे पूर्ण आत्म-समर्पण के साथ अपने प्रियतम के चरणों में प्रणत हैं अथवा उसकी बाँहों में आश्रय लिये हुए हैं और वहाँ पूर्ण सुरक्षा अनुभव कर रहे हैं। उनकी चेतना में भय, चिन्ता या दुःख के लिए ज़रा भी स्थान नहीं होता; इस सबका स्थान एक शान्त और हर्षपूर्ण आनन्द ले लेता है।

किन्तु प्रत्येक को गुह्यवेत्ता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

योद्धा का तरीक़ा

अन्त में, कुछ लोग जन्मजात योद्धा होते हैं। जीवन जैसा है उसे वे उसी तरह स्वीकार नहीं कर सकते, अपने अन्दर वे एक अमरता के अधिकार का, इस धरती पर ही पूर्ण अमरता के अधिकार का स्पन्दन अनुभव करते हैं। उनके अन्दर एक प्रकार का सहज ज्ञान होता है कि मृत्यु बस, एक बुरी आदत है और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उस पर विजय प्राप्त करने का निश्चय लेकर जन्म लिया है। इस पर विजय का अर्थ होता है भयंकर और सूक्ष्म आक्रमणकारियों की सेना के विरुद्ध घोर युद्ध, ऐसा युद्ध जो सदा ही, लगभग हर पल ही, लड़ना पड़े। इस मोर्चे पर आने का ख़तरा उसी को उठाना चाहिये जिसमें इसके लिए अदम्य उत्साह हो। इस युद्ध के कई मोर्चे हैं, यह कई स्तरों पर लड़ा जाता है जो आपस में एक-दूसरे से मिले-जुले तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

मन के अन्दर युद्ध

पहला युद्ध ही काफ़ी भीषण होता है। वह एक मानसिक युद्ध होता है, एक विशाल तथा अभिभूत और विवश कर देने वाले सुझाव के विरुद्ध, ऐसे सुझाव के विरुद्ध जो सहस्रों वर्षों के अनुभव पर आधारित है, 'प्रकृति' के एक ऐसे नियम पर आधारित है जिसका अभी तक कोई अपवाद देखने में नहीं आता। वह एक ऐसी हठीली मान्यता का रूप धारण कर लेता

है : सदा ही ऐसा होता रहा है, इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता। मृत्यु अनिवार्य है, और यह आशा करना पागलपन है कि मृत्यु अनिवार्य नहीं होगी। यह राय सर्वसम्मत है और अभी तक तो किसी बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक ने भी इसके विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाने का, भविष्य में आशा देने का ज़रा भी साहस नहीं किया है। और जहाँ तक धर्मों की बात है, अधिकतर धर्मों ने तो मृत्यु के तथ्य को ही अपनी कार्य-शक्ति का आधार बनाया है और वे कहते हैं कि यह भगवान् की इच्छा है कि मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो, क्योंकि उसी ने उसे नश्वर बनाया है। इनमें से बहुत से तो मृत्यु को उद्धार, मुक्ति और कभी-कभी तो पुरस्कार का रूप भी दे देते हैं। वे यह उपदेश देते हैं : 'सर्वोच्च' की इच्छा के आगे नत होकर मृत्यु के विचार को बिना किसी विद्रोह के स्वीकार करो और तुम्हें शान्ति और सुख मिलेगा। यह सब होते हुए भी, मन को अपने विश्वास में अटल रहना होगा, अपना संकल्प अटूट बनाये रखना होगा। किन्तु जिसने मृत्यु पर विजय पाने का संकल्प कर लिया है उस पर ये सब सुझाव कोई प्रभाव नहीं डालते, उसकी निश्चयता एक गहरे प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होती है और उस निश्चयता को ये सुझाव छू नहीं सकते।

भावनाओं का युद्ध

दूसरा युद्ध होता है भावनाओं का युद्ध, यह उस आसक्ति के विरुद्ध युद्ध है जो उसकी अपनी बनायी हुई सभी वस्तुओं के प्रति, अपनी सभी प्रिय वस्तुओं के प्रति होती है। कठिन परिश्रम के परिणामस्वरूप, कभी-कभी तो कठोर प्रयत्न के फलस्वरूप, तुमने अपना घर बनाया होता है, अपना जीवन निर्माण किया होता है, अपना सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक या राजनीतिक कार्य निश्चित किया होता है, तुमने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि कर ली होती है जिसके तुम मध्यबिन्दु होते हो और जिस पर तुम कम-से-कम उतना ही आश्रित होते हो जितना कि वह तुम पर होती है। तुम व्यक्तियों के एक बड़े समूह द्वारा, कुटुम्बियों, मित्रों और सहायकों द्वारा घिरे रहते हो और जब तुम अपने जीवन के विषय में सोचते हो तब ये सब तुम्हारी विचार-धारा में उतना ही बड़ा स्थान ग्रहण किये होते हैं जितना कि प्रायः तुम स्वयं ग्रहण किये होते हो; यहाँ तक कि यदि ये

अचानक तुमसे दूर हटा दिये जायें तो तुम अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करने लगोगे मानों तुम्हारी अपनी सत्ता का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग ग़ायब हो गया हो।

इन सब वस्तुओं का त्याग करने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि इनसे बहुत हद तक तुम्हारे अस्तित्व के प्रयोजन और लक्ष्य का निर्माण होता है। किन्तु त्याग करना है इनके प्रति अपनी आसक्ति का ताकि तुम इनके बिना रहने में समर्थ अनुभव कर सको, बल्कि, यदि ये तुम्हें छोड़ दें तो तुम अपने लिए नयी परिस्थितियों में और अनिश्चित समय के लिए नया जीवन फिर से बनाने के लिए तैयार रह सको, क्योंकि यही अमरता का परिणाम है। इस अवस्था का अर्थ होता है : सब कुछ अधिकतम ध्यान तथा सावधानी से व्यवस्थित और सम्पन्न कर सकना, किन्तु साथ ही कामना और आसक्तिमात्र से मुक्त रहना; कारण, यदि तुम मृत्यु से बचना चाहते हो तो तुम्हें किसी भी नश्वर वस्तु से बँधना नहीं चाहिये।

भावनाओं के बाद संवेदन आते हैं। यहाँ लड़ाई निर्मम होती है और शत्रु भयंकर। वे तुम्हारी छोटी-से-छोटी दुर्बलता भी भाँप लेते हैं और वहीं आघात करते हैं जहाँ तुम असावधान होते हो। यहाँ विजयें अस्थायी होती हैं और वे ही लड़ाइयाँ अनिश्चित रूप से बार-बार लड़नी पड़ती हैं। जिस शत्रु को तुम हारा हुआ समझते हो वह बार-बार तुम पर चोट करने के लिए उठ खड़ा होता है। यहाँ दृढ़ रूप में सधे हुए चरित्र की, अथक सहनशीलता की आवश्यकता होती है ताकि समस्त पराजय, निराशा, अस्वीकृति और निरुत्साह का तथा नित्यप्रति के अनुभवों और पार्थिव घटनाओं के परस्पर-विरोध से उत्पन्न अपरिमित क्लान्ति का सामना किया जा सके।

अब हम सबसे अधिक भयंकर युद्ध पर आते हैं, यह है भौतिक युद्ध जो शरीर में लड़ा जाता है; क्योंकि यह बिना दम लिये, बिना विराम के चलता रहता है। यह जन्म के साथ शुरू होता है और दोनों योद्धाओं—रूपान्तर की शक्ति और विलयन की शक्ति—में से किसी एक की पराजय के साथ ही समाप्त हो सकता है। मैंने जन्म से कहा, क्योंकि ये दोनों गतियाँ उसी क्षण से संघर्षरत होती हैं जिस क्षण मनुष्य संसार में आता है, यद्यपि संघर्ष सचेतन और सुविवेचित रूप बहुत बाद में लेता है। क्योंकि हर अस्वस्थता, हर रोग, हर विकृति, यहाँ तक कि दुर्घटनाएँ भी विलयन

की शक्ति का परिणाम हैं, उसी तरह जैसे विकास, सामञ्जस्यपूर्ण विकास, आक्रमण का प्रतिरोध, रोग-मुक्ति, हर स्वाभाविक क्रिया की ओर लौटना, हर प्रगतिशील सुधार आदि रूपान्तर की शक्ति की क्रिया का परिणाम हैं। बाद में चल कर, चेतना के विकास के साथ, जब युद्ध सुविवेचित हो जाता है, तब यह दो परस्पर-विरोधी गतिविधियों के बीच एक प्रचण्ड प्रतियोगिता होती है, यह देखने के लिए प्रतियोगिता होती है कि देखें, लक्ष्य तक पहले कौन पहुँचता है, मृत्यु या रूपान्तर। इसका अर्थ है एक अन्तहीन प्रयास, एक पुनरुद्धारक शक्ति का आवाहन करने के लिए सतत एकाग्रता और इस शक्ति के प्रति कोषाणुओं में ग्रहणशीलता की वृद्धि। ह्रास और विनाश की शक्तियों के विरुद्ध पग-पग पर, एक-एक बिन्दु पर युद्ध करना और हर उस चीज़ को जो प्रकाश देने वाली, पवित्र करने वाली और स्थिर करने वाली ऊपर उठती हुई प्रवृत्ति को प्रत्युत्तर देने की क्षमता रखती है, ऐसी हर चीज़ को उसकी पकड़ से छीन लेना। यह एक अन्धकारपूर्ण और हठी संघर्ष है जिसका अधिकतर कोई प्रत्यक्ष परिणाम नहीं दिखायी देता, किन्हीं आंशिक और सदा अनिश्चित विजयों का कोई बाहरी चिह्न नहीं दिखायी देता—क्योंकि हमेशा यही लगता है कि जो काम किया गया है उसे दोबारा करना होगा। बहुधा, जब एक पग आगे बढ़ता है तो उसके लिए कहीं और पीछे हटना होता है और एक दिन जो काम पूरा हो जाता है दूसरे दिन उसी को उधेड़ा जा सकता है। वस्तुतः विजय तभी निश्चित और स्थायी हो सकती है जब वह सम्पूर्ण हो। और इस सबमें समय लगता है, बहुत समय, और वर्ष-पर-वर्ष बड़ी कठोरता के साथ चलते चले जाते हैं और विरोधी शक्तियों का बल बढ़ाते जाते हैं।

इस सारे समय चेतना खाई में सन्तरी की तरह खड़ी रहती है : तुम्हें डटे रहना चाहिये, हर क़ीमत पर डटे रहना चाहिये, भय के कम्पन के बिना या जागरूकता में कमी लाये बिना, जो लक्ष्य सिद्ध करना है उस पर, और ऊपर से आने वाली प्रेरणा और सहारा देने वाली सहायता पर अटल श्रद्धा के साथ डटे रहना चाहिये। विजय सबसे अधिक सहनशील को ही मिलेगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ९०-९६

क्या है अमरता

अमरत्व का अर्थ मृत्यु के बाद मनोमय व्यक्तित्व का बने रहना नहीं है, यद्यपि वह भी सत्य है, बल्कि उसका अर्थ है उस अजन्मी और मृत्युहीन आत्मा को ज्ञानपूर्वक प्राप्त करना जिसका शरीर केवल एक यन्त्र और एक छाया है।

... 'अमरत्व' तो वह जीवन है जिसका न तो आदि है और न अन्त, जो न तो उत्पन्न होता है, और न मरता है, जो पूर्ण रूप से शरीर से स्वतन्त्र होता है—वह सच्चे 'स्व' का जीवन है, प्रत्येक व्यक्ति की मूल सत्ता है और वह सच्चा 'स्व' विश्वात्मा से पृथक् नहीं है। और इस मूल सत्ता को विश्वात्मा के साथ उपलब्ध एकत्व का बोध प्राप्त है; वास्तव में, वह सत्ता विश्वात्मा की ही एक साकार, व्यष्टिभावापन्न अभिव्यक्ति है और उसका न तो आदि होता है और न अन्त, न जीवन है न मृत्यु, वह शाश्वत रूप में विद्यमान है और वही अमर है। जब हम इस सच्चे 'स्व' के विषय में पूर्णतः सचेतन हो जाते हैं तब हम उसके शाश्वत जीवन में हिस्सा बँटाते हैं और इसलिए हम भी अमर हो जाते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३४, ३५-३६

हर एक यही भूल करता है कि वह मानता है, विश्वास करता है कि हमारा लक्ष्य अमरता को ही पाना है, जब कि अमरता तो कई परिणामों में से एक है... अगर तुम सच्चा जीवन जियो तो यह एक स्वाभाविक परिणाम है।

५ अगस्त १९६४ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

अमरता की सहज आवश्यकता

एक दिन, किसी अवसर पर मैंने देखा कि किस चीज़ ने हमारे उन "पूर्वजों" को प्रेरित किया जिन्होंने वेद लिखे: वह थी अमरता की आवश्यकता; वे अमरता की खोज में थे। वहाँ से मैं बुद्ध के काल में पहुँच गयी और मैंने देखा कि बुद्ध को किस चीज़ ने निर्वाण के पथ पर बढ़ाया: वह

थी शुद्ध और सहज रूप से स्थिरता और नित्यता की आवश्यकता : चीज़ों की अस्थायी स्थिति ने उन्हें गभीर रूप से विचलित कर दिया था और उनके अन्दर स्थिरता पाने की हूक उठी। उनकी समस्त खोज थी कि स्थिरता को कैसे पाया जाये (वे उसे पाने को इतने लालायित क्यों थे भला?...) मानव-प्रकृति में इस तरह की कुछ चीज़ें होती हैं, यह उनकी गभीर आवश्यकताओं में से एक है। फिर मैंने इस तरह की एक और आवश्यकता देखी : 'निश्चिति' की आवश्यकता, यानी, उन्हें विश्वास होता है कि कोई है जो उन्हें सँभाले हुए है...

... यह जीवन की कई आवश्यकताओं में से एक है (हाँ, जीवन की बहुतेरी ज़रूरतें होती हैं); यही वह प्रेरणा है जिससे प्रोत्साहित होकर मानव-सत्ता निरन्तर अपनी वर्तमान अवस्था से परे उठने की कोशिश करती है। उसकी ये आवश्यकताएँ ही... क्रम-विकास के बीज और अंकुर हैं। ये हमें प्रगति करने को बाध्य करते हैं।

२७ नवम्बर १९६२ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

अमरता को समझना

परन्तु साधारणतया लोगों में इस "अमरत्व" शब्द के विषय में कुछ भ्रान्ति है—यह कोई नयी बात नहीं है, ऐसा अक्सर लोग किया करते हैं। जब कोई अमरत्व की चर्चा करता है तो अधिकतर लोग यह समझते हैं कि यहाँ शरीर को ही अनन्त काल तक बनाये रखने की बात कही जा रही है।

परन्तु शरीर तब तक अनन्त काल तक नहीं बना रह सकता जब तक कि, सबसे पहले, वह इस अमर 'स्व' के विषय में पूर्ण सचेतन न हो जाये और इसके साथ युक्त न हो जाये, इसके साथ इस हद तक एकाकार न हो जाये कि इसमें भी सतत रूपान्तरित होते रहने की वही क्षमता, वही शक्ति आ जाये जिससे उसे विश्वव्यापी गति का अनुसरण करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, स्थायित्व प्राप्त करने की यह पूर्णतः अनिवार्य शर्त है। चूँकि शरीर अनम्य होता है, चूँकि वह विश्व-गति का अनुसरण नहीं करता, चूँकि वह विश्व के विकास के साथ सतत एकात्मता प्राप्त करने के लिए पर्याप्त तीव्रता के साथ परिवर्तित होने में असमर्थ होता है, इसीलिए वह विकार और मृत्यु को प्राप्त होता है। उसकी यह स्थिरता, अनम्यता, परिवर्तित

होने की असमर्थता ही उसे विनाश को प्राप्त होने के लिए बाध्य करती है ताकि उसका उपादान भौतिक उपादान के सामान्य भण्डार में वापस आ जाये और फिर से नये रूप बनाये तथा प्रगति करने में समर्थ हो। परन्तु सामान्यतया, जब लोग अमरत्व की बात करते हैं तब वे समझते हैं कि इसका अर्थ ही है शरीर का अमरत्व; यह जानी हुई बात है कि ऐसी चीज़ अभी तक संसिद्ध नहीं हुई है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह सम्भव है और यह भी कहते हैं कि यह प्राप्त होगा, वे इसके लिए एक शर्त रखते हैं: वह यह है कि शरीर को अतिमानसभावापन्न हो जाना होगा और इसे अतिमानसिक सत्ता के गुणों में हिस्सा बँटाना होगा और वे हैं नमनीयता और सतत रूपान्तरित होने के गुण। और जब श्रीअरविन्द यह लिखते हैं कि शरीर केवल एक "यन्त्र और छाया" है तब वे उस शरीर की बात करते हैं जो हमें अभी प्राप्त है और जो सम्भवतः बहुत दीर्घकाल तक ऐसा ही बना रहेगा। यह सच्चे 'स्व' का केवल एक यन्त्र है, सच्चे 'स्व' की एक बहुत ही अपूर्ण अभिव्यक्ति और एक छाया है—एक छाया है, अर्थात्, शाश्वत सच्चे 'स्व' की ज्योति और सुस्पष्टता के मुक़ाबले में एक अस्पष्ट और धूमिल पदार्थ है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३६-३७

हमारे अन्दर की अमर उपस्थिति

बहुसंख्यक लोग जब "मैं" कहते हैं तो वह उनका एक अंश होता है, उनकी भावना, उनके शरीर, उनके विचार का एक भाग होता है जो अलग रह कर बोलता है; यह एक ऐसी चीज़ होती है जो सर्वदा बदलती रहती है। अतएव उनका "मैं" असंख्य होता है, या उनका "मैं" सदा विभिन्न रूप लेता रहता है। उसमें कौन-सी चीज़ निरन्तर बनी रहती है?... स्पष्ट ही, चैत्य पुरुष। क्योंकि, सतत बने रहने के लिए किसी वस्तु को सर्वप्रथम अमर होना चाहिये। अन्यथा वह स्थायी नहीं हो सकती। फिर, उसे उन अनुभवों से स्वतन्त्र भी होना चाहिये जिनमें से वह गुज़रती है: स्वयं अनुभूतियाँ ही वह वस्तु नहीं हो सकतीं। अतएव, निश्चय ही नदी का तल वह वस्तु नहीं है जो नदी का निर्माण करती है; तल तो केवल एक परिस्थिति है। यदि तुलना को थोड़ी अधिक दूर तक ले जाया जाये (वैसे

तो, तुलनाएँ बेकार हैं, लोग उनमें वे जो कुछ चाहें ढूँढ़ निकालते हैं), तो यह कहा जा सकता है कि नदी जीवन का एक अच्छा प्रतीक है; नदी में जो कुछ स्थायी है वह है उपादान-तत्त्व "जल"। सर्वदा वही जल-बिन्दु वहाँ नहीं रहता, पर जल सर्वदा रहता है—जल के बिना कोई नदी नहीं हो सकती। और मनुष्य के अन्दर जो कुछ टिका रहता है वह है मूल उपादान "चेतना"। चूँकि मानव-सत्ता के अन्दर एक चेतना है इसलिए वह टिकी रहती है। वास्तव में आकार नहीं बने रहते, चेतना बनी रहती है, इन सभी आकारों को एक साथ बाँध रखने की शक्ति, इन सभी चीज़ों में से गुज़रने की शक्ति बनी रहती है, और वह उनकी महज़ एक स्मृति (स्मृति तो कोई बहुत बाहरी वस्तु है) नहीं बनाये रखती, बल्कि चेतना के उसी स्पन्दन को बनाये रखती है। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ४, पृ. २०५

हाँ, चैत्य पुरुष समस्त संगठन के पीछे है, चैत्य पुरुष मानव जीवन और चेतना के इस त्रिविध संगठन के पीछे और अपनी चेतना द्वारा, जो अमर है, उन्हें सहारा देता है। चैत्य के कारण ही हमारे अन्दर निरन्तरता का इतना स्पष्ट भाव रहता है। अन्यथा यदि आज तुम जो हो उसकी तुलना उस अवस्था से करो जब तुम तीन वर्ष के थे, तो स्पष्ट है कि तुम अपने-आपको किसी प्रकार न पहचान सकोगे, न भौतिक रूप से, न प्राणिक रूप से और न मानसिक रूप से। किसी प्रकार का कोई सादृश्य नहीं होता। लेकिन पीछे चैत्य मौजूद है जो विकास को, सत्ता की वृद्धि को सहारा देता है और चेतना की निरन्तरता का भाव देता है, तुम्हें यह अनुभव कराता है कि एकदम भिन्न, एकदम भिन्न होने के बावजूद तुम वही सत्ता हो। बाद में अगर तुम अपना पर्याप्त निरीक्षण करो तो तुम देख सकोगे कि जो चीज़ें तुम तब समझ और कर सकते थे वे ऐसी चीज़ें हैं जो आज बिलकुल कल्पनातीत मालूम होती हैं, और आज तुम उस तरह की चीज़ें कभी न कर पाओगे क्योंकि तुम वही व्यक्ति बिलकुल नहीं हो। फिर भी, चूँकि अन्दर चैत्य चेतना थी जो अमर है, इसलिए तुम्हें ऐसा लगता है कि हमेशा वही सत्ता रहती है जो पहले थी और जो अब भी बनी हुई है और आगे भी न्यूनाधिक क्रमिक और न्यूनाधिक सचेतन परिवर्तनों के साथ बनी रहेगी। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ७, पृ. २४४

अमरता का अमृत

प्रत्येक सम्प्रदाय का भगवान् तक पहुँचने का अपना विशेष तरीक़ा होता है और इसी कारण श्रीअरविन्द इनकी तुलना विभिन्न पात्रों से करते हैं। किन्तु वे कहते हैं : रास्ता कोई भी पकड़ो इस बात का अधिक महत्त्व नहीं है। महत्त्व केवल लक्ष्य का है और तुम किसी भी रास्ते पर चलो, लक्ष्य एक ही है। अमृत किसी भी पात्र में हो, होगा अमृत ही।

कुछ लोग कहते हैं कि बर्तन का सोंधापन और जिस रास्ते का तुम अनुसरण करते हो वह रास्ता अमृत का स्वाद बदल देते हैं, दूसरे शब्दों में, वे भगवान् के साथ तुम्हारे मिलन को बदल देते हैं। श्रीअरविन्द उत्तर देते हैं : उन तक पहुँचने का रास्ता भिन्न हो सकता है और प्रत्येक व्यक्ति उसी रास्ते को चुनता है जो उसे पसन्द हो, तथा जो उसकी रुचि के अनुकूल हो, किन्तु स्वयं अमृत, अर्थात् भगवान् के साथ मिलन, समस्त अवस्थाओं में अमरत्व की अपनी शक्ति सुरक्षित रखता है।

अब जब कि यह कहा जाता है कि भगवान् के साथ मिलन के द्वारा व्यक्ति अमरता की चेतना प्राप्त कर लेता है, तो इसका अर्थ यह है कि हमारी चेतना उस चेतना के साथ संयुक्त हो जाती है जो अमर है, परिणाम- स्वरूप वह अपने-आपको भी अमर अनुभव करती है। तब हम ही उन क्षेत्रों के प्रति सचेतन हो जाते हैं जहाँ अमरता का निवास है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमारी भौतिक सत्ता रूपान्तरित और अमर हो जाती है; इसके लिए एक बिलकुल दूसरी ही प्रणाली का अनुसरण करना होगा। और तुम्हें केवल इस चेतना को पहले प्राप्त ही नहीं करना होगा बल्कि इसे स्थूल जगत् में भी उतार लाना होगा। इसे केवल भौतिक चेतना का रूपान्तर ही नहीं बल्कि भौतिक सत्ता का भी रूपान्तर साधित करने देना होगा जो एक काफ़ी बड़ा कार्य है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ९४-९५

पृथ्वी पर अमरता की अभिव्यक्ति

जब पहले मानवजाति की रचना हुई तो अहंकार एक करने वाला उपकरण था। सत्ता की विभिन्न अवस्थाएँ अहं के चारों ओर वर्गीकृत थीं; लेकिन अब जब अतिमानवता के जन्म की तैयारी हो रही है, अहंकार

को लुप्त होना और चैत्य सत्ता को स्थान देना होगा जो धीरे-धीरे भागवत हस्तक्षेप द्वारा मानव सत्ता में भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए निर्मित हो चुकी है।

चैत्य के प्रभाव-तले ही भगवान् मनुष्य में अभिव्यक्त होते हैं और इस तरह अतिमानवता के आगमन की तैयारी करते हैं।

चैत्य अमर है और चैत्य द्वारा धरती पर अमरता को प्रकट किया जा सकता है।

तो अब महत्त्वपूर्ण कार्य है, अपने चैत्य को पाना, उसके साथ एक होना और उसे अहंकार का स्थान लेने देना। अहंकार या तो परिवर्तित होने या लुप्त हो जाने के लिए बाधित होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४८६

भगवान् मनुष्य के अन्दर चैत्य प्रभाव-तले अभिव्यक्त होते हैं और इसी तरह से अतिमानवता के आगमन की तैयारी की जाती है।

चैत्य सत्ता अमर है, उसके द्वारा पृथ्वी पर अमरता अभिव्यक्त हो सकती है। अतः, अब महत्त्वपूर्ण चीज़ है—अपनी चैत्य सत्ता को पाना, उसके साथ एक होना, और उसे इसकी अनुमति देना कि अहंकार के स्थान पर वह आ जाये, जिसकी वजह से अहंकार या तो बदलने के लिए या फिर ग़ायब हो जाने के लिए विवश हो जायेगा।

८ फ़रवरी १९७२ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण

विज्ञान केवल भौतिक क्रम-विकास के तथ्यों द्वारा वाद-विवाद करता है क्योंकि उसने मात्र इसी का अध्ययन किया है और अपनी इस सीमा के बाहर वह दूसरी किसी सम्भावना को नहीं मानता, इसलिए उसका इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि केवल भौतिक का ही अस्तित्व है, न्याय्य है और तर्कसंगत उपसिद्धान्त के रूप में उसका अन्तरात्मा की अमरता को अस्वीकार करना भी फिर मान्य ही ठहरता है। क्योंकि अगर यह कहा जाये कि चैत्य गतियाँ भौतिक जीवन की अस्थायी क्रियाएँ हैं और चैत्य अपनी निरन्तरता के लिए शरीर पर ही निर्भर रहता है तो इसका तो यही अर्थ

निकलता है कि जब शरीर समाप्त हो जायेगा और सभी शारीरिक सञ्चालन मृत्यु की रहस्यमयी 'एजेंसी' के द्वारा बन्द हो जायेंगे तब मानव व्यक्तित्व जो चैत्य रूप से सक्रिय रहता है उसे भी समाप्त होना होगा। जब शरीर का अन्त हो जाता है तो अन्तरात्मा का भी अन्त हो जाता है—जैसे, जब फूल वृन्त से टूट जाता है तो ज़िन्दा नहीं रह पाता, नींव कमज़ोर पड़ जाये तो इमारत ढह जाती है। शरीर वृन्त है, अन्तरात्मा फूल है, शरीर नींव है, अन्तरात्मा प्रकाश और अस्थायी इमारत है। इन सब बातों को हिन्दू-विचार एकदम से नकार देता है। उसका कहना है कि जिस तरह विज्ञान भौतिक जीवन और प्रकृति की पूरी-पूरी जाँच-पड़ताल कर सकता है उसी तरह वह भी यह दावा करता है कि उसी बारीक़ी से वह चैत्य जीवन का पूरा-पूरा अन्वेषण कर सकता है और अपने अन्वेषणों के प्रकाश में वह यह घोषणा कर देता है कि अन्तरात्मा का अस्तित्व शरीर में आने के पहले से ही था और शरीर छोड़ने के बाद भी बना रहेगा। वह भौतिक जीवन ही है जिसका चैत्य के द्वारा क्रम-विकास हुआ है, वह और कुछ नहीं, बस चैत्य की गतियों का ही अस्थायी निवास है—अस्थायी इसलिए क्योंकि शरीर बदलता रहता है, चैत्य सत्ता नहीं। इसलिए हम कहते हैं कि शरीर है पुष्प और आत्मा है वृन्त; अन्तरात्मा है नींव और शरीर है उसके ऊपर बनी क्षणभंगुर और अस्थायी इमारत।

CWSA खण्ड १७, पृ. २३६-३७

हमारे अन्दर की अमर अन्तरात्मा

अन्तरात्मा को प्राण और जड़तत्त्व में भगवदग्नि की चिनगारी कहा गया है, यह एक रूपक है। इसे चेतना की चिनगारी नहीं कहा गया है।

हमारे अन्दर मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतना है—ये चैत्य से भिन्न हैं। चैत्य पुरुष और चेतना एक ही वस्तु नहीं हैं।

जब अन्तरात्मा अथवा "भगवदग्नि की चिनगारी" एक चैत्य व्यक्तित्व को विकसित करना आरम्भ करती है तो उस चैत्य व्यक्तित्व को चैत्य पुरुष कहते हैं।

संगठित प्राण और मन के विकास के पहले भी अन्तरात्मा या चिनगारी वहाँ रहती है। अन्तरात्मा स्वयं भगवान् का एक अंश है जो क्रमविकास

के अन्दर उतरता है और उसके अन्दर वह भागवत तत्त्व है जो अज्ञान से ज्योति में होने वाले व्यक्ति के विकासक्रम को सहारा देता है। यह क्रमविकास की धारा में एक चैत्य व्यक्ति या अन्तरात्म-व्यक्तित्व को विकसित करता है जो जन्म-जन्म में वर्धित होता और विकसनशील मन, प्राण और शरीर को अपने यन्त्रों के रूप में व्यवहृत करता है। अन्तरात्मा ही अमर है जब कि बाक़ी सभी चीज़ें विघटित हो जाती हैं। अन्तरात्मा एक जीवन से दूसरे जीवन में जाती है और सार रूप में अपने अनुभव को तथा व्यक्ति के विकासक्रम की धारा को वहन करती है।

यह सम्पूर्ण चेतना है—मानसिक, प्राणिक और साथ ही भौतिक भी—जिसे ऊपर उठ कर उच्चतर चेतना में सम्मिलित हो जाना है, और एक बार यह मिलन हो जाये तो उच्चतर को उनमें उतरना होगा। इन सबके पीछे चैत्य उपस्थित है और इन्हें सहारा देता है।

CWSA खण्ड २८, पृ. ११७-१८

अपने अन्दर भगवान् तक उठ कर हम जगत् के बन्धनों और मृत्यु के जाल से मुक्त और स्वाधीन हो सकते हैं। क्योंकि भगवान् स्वाधीन हैं, भगवान् अमर-अजर हैं। मृत्यु के पार जाकर हम अमरता का उपभोग करते हैं।

CWSA खण्ड १७, पृ. ३०४

शरीर **की** अमरता नहीं बल्कि शरीर **में** अमरता की चेतना जड़-भौतिक में अधिमानस के अवतरण द्वारा आ सकती है या फिर यह भौतिक मन में अथवा भौतिक-मानसिक चेतना में परिवर्धित 'अतिमानसिक प्रकाश' के स्पर्श द्वारा भी उतर सकती है। ये सभी प्रारम्भिक उद्घाटन हैं, लेकिन ये जड़-भौतिक में अतिमानसिक उपलब्धि नहीं हैं।

श्रीअरविन्द

प्राचीन धर्मग्रन्थों में अमरता का उल्लेख

अमरता की ओर

इस स्थूल जगत् में मनुष्य मर्त्य जीवन के "भूरि अनृत" (अत्यधिक असत्य) के तथा मृत्यु के अधीन होकर रहता है। इस मृत्यु से ऊपर उठने के लिए, अमरों की पंक्ति में बैठने के लिए उसे असत्य से सत्य की ओर मुड़ना होता है; उसे प्रकाश की ओर उन्मुख होना और अन्धकार की शक्तियों से जूझना तथा उन्हें जीतना पड़ता है। यह कार्य वह दिव्य शक्तियों के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करके और उनकी सहायता लेकर सम्पन्न करता है; इस सहायता को नीचे पुकार लाने का तरीक़ा वैदिक गुह्यदर्शियों का एक गुह्य विषय था। इसी उद्देश्य से बाह्य यज्ञ के प्रतीकों को सम्पूर्ण जगत् के "गुह्यों" की ही भाँति एक आन्तरिक अर्थ प्रदान किया गया है; वे मनुष्य के अन्दर देवताओं के आह्वान, सम्बन्ध जोड़ने वाले यज्ञ, एक घनिष्ठ आदान-प्रदान, पारस्परिक सहायता और अन्तर्मिलन को सूचित करते हैं। मनुष्य के अन्दर देवताओं की शक्तियों की प्रतिष्ठा होती है और उसके साथ ही दैवी प्रकृति की विश्वमयता का गठन भी। कारण, देवता सत्य के रक्षक और संवर्धक हैं, अमर भगवान् की शक्तियाँ हैं, अनन्त माता—'अदिति' के पुत्र हैं; अमरता का मार्ग देवताओं का ऊर्ध्वमुख मार्ग है, 'सत्य' का मार्ग है, एक यात्रा एवं आरोहण है जिसके द्वारा सत्य के विधान, **ऋतस्य पन्थाः**, की ओर विकास होता है। मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता की ही नहीं बल्कि अपनी मानसिक और साधारण चैत्य प्रकृति की सीमाओं को लाँघ कर और सत्य के उच्चतम स्तर एवं परम व्योम में पहुँच कर अमरत्व प्राप्त करता है : क्योंकि वही अमृतत्त्व का आधार और त्रिविध 'अनन्त' का मूल धाम है। इन विचारों के आधार पर वैदिक तत्त्ववेत्ताओं ने एक गहन मनोवैज्ञानिक एवं आन्तरात्मिक साधना का निर्माण किया जो अपने से परे एक उच्चतम आध्यात्मिकता की ओर ले जाती थी और जिसमें बाद के भारतीय योग का बीज निहित था। यहाँ हमें भारतीय आध्यात्मिकता के विशिष्टतम विचार अपने पूर्ण विस्तृत रूप में न सही, पर बीजरूप में प्राप्त होते हैं। एक एकमेव सत्ता, **एकं सत्** है जो व्यक्ति और जगत् के परे विश्वातीत है। एक परम देव है जो अपने देवत्व के अनेक रूप, नाम,

शक्तियाँ और व्यक्तित्व हमारे समक्ष प्रदर्शित करता है। विद्या और अविद्या में एक विभेद[१] है, मर्त्य जीवन के अत्यधिक असत्य या मिश्रित सत्यासत्य के विपरीत अमर जीवन का एक महत्तर सत्य है। मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए एक साधना है जिसके द्वारा वह भौतिक जीवन से आरम्भ कर आन्तरात्मिक में से गुज़रता हुआ आध्यात्मिक जीवन में विकसित हो सकता है। मृत्यु पर विजय, अमृतत्त्व का एक रहस्य और मानव आत्मा की उपलभ्य दिव्यता का एक बोध—यह सब भी है। एक ऐसे युग में जिसकी ओर हम अपने बाह्य ज्ञान के घमण्ड में मानवता के बचपन या, अधिक-से-अधिक, एक शक्तिशाली बर्बरता के युग के रूप में दृष्टि डालने के अभ्यासी हैं, यह एक अन्तःप्रेरित और बोधिमूलक आन्तरात्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा थी जिसके द्वारा मानवजाति के प्राचीन पूर्वजों ने, **पूर्वे पितरः मनुष्याः**, भारत में एक महान् एवं गभीर सभ्यता की स्थापना की थी। CWSA खण्ड २०, पृ. २०२-०३

कौन है अमरता के उपयुक्त?

वास्तविक तथ्य क्या है? वह परम ध्येय क्या है? यह कि जगत् के इन महान् आवर्तनों के अन्दर मनुष्य के जीवन-मरण का जो सतत प्रवाह चल रहा है वह एक दीर्घ-कालव्यापी प्रगति है जिसके द्वारा मानव-प्राणी अपने-आपको अमृतत्त्व के लिए तैयार करता है। वह अपने-आपको कैसे तैयार करे? कौन-सा मनुष्य अधिकारी होता है? वह जो अपने-आपको प्राण और शरीर समझने वाली धारणा से ऊपर उठाता है, जो संसार के भौतिक और संवेदनात्मक प्रभाव को बहुत अधिक मूल्य नहीं देता अथवा उतना मूल्य नहीं देता जितना देहात्म-बुद्धि रखने वाला देता है, जो अपने-आपको और सबको आत्मा जानता है, जो अपने शरीर में नहीं, बल्कि आत्मा में रहने का अभ्यासी होता है और दूसरों के साथ, उन्हें केवल देह-स्वरूप जान कर नहीं, बल्कि आत्मा जान कर ही व्यवहार करता है। कारण, अमृतत्त्व का अर्थ मृत्यु के बाद केवल जीना ही नहीं है—वह तो मन को लेकर जन्मे हुए प्रत्येक प्राणी को प्राप्त है—अमृतत्त्व का अर्थ है जीवन-मरण

[१] चित्तिमचित्तिं चिनवद् विद्वान्, अर्थात्, "ज्ञानी को विद्या और अविद्या में भेद करना चाहिये।"

की अवस्था को पार कर जाना। यह वह ऊर्ध्व गति है जिससे मनुष्य मन से अनुप्राणित शरीर के रूप में न रह कर अन्त में आत्मा होकर आत्मा में ही रहने लगता है। जो कोई शोक और दुःख के वशीभूत होता है, इन्द्रियानुभवों और भावावेगों का दास बनता है, क्षणभंगुर और अनित्य मात्रास्पर्शों में लिप्त रहता है, वह अमृतत्त्व का अधिकारी नहीं हो सकता। इन सबको तब तक सहना होगा जब तक इन पर प्रभुत्व न स्थापित हो जाये, जब तक वह मुक्त अवस्था न प्राप्त हो जाये जहाँ ये कोई दुःख न दे सकें, जब तक कि संसार की सब पार्थिव घटनाएँ, चाहे वे सुखद हों या दुःखद, ज्ञानयुक्त स्थिरता और समता से वैसे ही ग्रहण न की जा सकें जैसे हमारे अन्दर रहने वाली शान्त सनातन गूढ़ आत्मा उन्हें ग्रहण करती है। शोक और भय से विचलित होना, जैसे अर्जुन हुआ, और अपने गन्तव्य पथ से भ्रष्ट हो जाना, तथा दैन्य और दुःखभार से दब तक शारीरिक मृत्यु की अनिवार्य और अतिसामान्य घटना का सामना करने से पीछे हटना अनार्यजुष्ट है, आर्य अपनी धीर शक्ति के साथ जिस अमर जीवन की ओर ऊपर चढ़ता रहता है उसका यह रास्ता नहीं है।

वह जो अमर है

मृत्यु यथार्थ में कोई चीज़ नहीं है, क्योंकि मरता तो शरीर है और शरीर मनुष्य नहीं है। जो वास्तव में है, उसका अस्तित्व कभी नष्ट नहीं हो सकता; हाँ, वह जिन रूपों को लेकर प्रकट होता है उनको बदल सकता है। वैसे ही, जो नहीं है वह हो भी नहीं सकता। आत्मा है और उसका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं हो सकता। यह सत् और असत् (है और नहीं) का जो अन्तर है, आत्मभाव और भूतभाव का अन्तर दिखाने वाली यह जो तुला है जिससे मनुष्य का मन इस जगत् और जीवन को देखा करता है, इसकी परिणति उस आत्मानुभव में हुआ करती है जहाँ यह बोध होता है कि एक आत्मा ही अविनाशी पुरुष है जिसके द्वारा यह सारा विश्व प्रसारित है। शरीर सान्त है, उसका अन्त होता है पर जो इस शरीर को धारण करता और इससे काम लेता है वह अनन्त, अपरिच्छिन्न, सनातन और अविनाशी है। वह जीर्ण-शीर्ण शरीरों को छोड़ कर नये शरीर धारण करता है, जैसे मनुष्य अपने फटे-पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है;

इसमें शोक करने, सहमने और पीछे हटने की कौन-सी बात है? वह न जनमता है न मरता है, न वह ऐसी वस्तु है जो होकर लुप्त हो जाये और कभी न हो। वह अज, अनादि, अव्यय आत्मा है; शरीर के मारे जाने से वह नहीं मारा जाता। अजर-अमर आत्मा को मार ही कौन सकता है? शस्त्र उसे छेद नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, हवा सुखा नहीं सकती। वह स्थाणु है, अचल है, सर्वव्यापी है, सनातन है—सदा से है और सदा रहेगा—शरीर की तरह वह व्यक्त नहीं है, लेकिन समस्त अभिव्यक्ति से महत्तर है, उसका विचार द्वारा विश्लेषण नहीं हो सकता, क्योंकि वह समूचे मन से बड़ा है, प्राणशक्ति और उसके करणोपकरण एवं उनके विषयों की तरह उसमें विकार और परिवर्तन नहीं होते, बल्कि वह मन, प्राण और शरीर के परिवर्तनों के परे है, फिर भी वह वह सद्वस्तु है जिसे ये सब मूर्तिमान् करने में लगे हैं।

जन्म और मृत्यु मील के पत्थर हैं

यदि आत्मा का सत्य इतना महान्, विशाल और जीवन-मरण के परे न हो, यदि आत्मा सदा जनमती और मरती हो, फिर भी प्राणियों की मृत्यु शोक का कारण नहीं होनी चाहिये। क्योंकि जीव की आत्म-अभिव्यक्ति की यह एक अनिवार्य अवस्था है। उसके जन्म का अर्थ है, उसका किसी ऐसी अवस्था से बाहर निकल आना जहाँ वह अस्तित्वहीन तो नहीं है, पर हमारी मर्त्य इन्द्रियों के लिए अप्रकट है, उसकी मृत्यु का अर्थ ही है उसी अप्रकट जगत् या अवस्था में लौट जाना जहाँ से वह इस भौतिक अभिव्यक्ति में फिर प्रकट होगा। भौतिक मन और इन्द्रियाँ रोग-शय्या पर या रणक्षेत्र में होने वाली मृत्यु और उसके भय के सम्बन्ध में जो रोना-पीटना मचाती हैं वह प्राण की हाय-तोबाओं में सबसे अधिक अज्ञानमय है। मनुष्यों की मृत्यु पर हमारा शोक, उनके लिए अज्ञानभरा दुःख है, जिनके लिए दुःख करने का कोई कारण नहीं, क्योंकि न तो वे अस्तित्व से बाहर गये हैं न उनकी अवस्था में कोई दुःखद या भयानक परिवर्तन ही हुआ है। वे अपनी सत्ता में मृत्यु के उतने ही परे हैं जितने कि वे जीवन में रहते हुए थे और जीवन की अपेक्षा इस अवस्था में अधिक दुःखी नहीं हैं। परन्तु यथार्थ में उच्चतर सत्य ही वास्तविक सत्य है। सब कुछ वही आत्मा है, वही "एक" है, वही

परमात्मा है जिसे हम समझ से परे, अद्‌भुत मानते हैं और उसके बारे में यही कहते और सुनते हैं। क्योंकि हमारी इतनी खोज और ज्ञान की घोषणा के बाद भी तथा ज्ञानी जनों से इतना सब सुनने के बाद भी, उस "केवल" को कोई मानव-मन कभी नहीं जान सका है। वह "केवल", शरीर का स्वामी ही यहाँ इस जगत् की ओट में छिपा हुआ है; सारा जीवन उसकी छायामात्र है; जीव का भौतिक अभिव्यक्ति में आना और मृत्यु के द्वारा हमारा इस अभिव्यक्ति से बाहर निकल जाना, उसकी एक गौण क्रियामात्र है। जब हम अपने-आपको इस रूप में जान लेते हैं तब यह कहना कि हमने किसी की हत्या की या किसी ने हमारी हत्या की, निरर्थक है। सत्य तो एकमात्र यही है और इसी में हमें रहना होगा, कि मनुष्य की आत्मा की यात्रा के इस महान् चक्र में मानव-जीव-रूप से वह शाश्वत पुरुष ही स्वयं प्रकट होता है, जिसमें जन्म और मृत्यु उस यात्रा के मार्ग में मील के पत्थर हैं, परलोक उसके विश्राम-स्थान हैं, जीवन की सारी अवस्थाएँ, चाहे सुखद हों या दुःखद, हमारी प्रगति, संग्राम और विजय के साधन हैं और अमरत्व हमारा धाम है जहाँ के लिए आत्मा यात्रा कर रही है।
CWSA खण्ड १९, पृ. ६१-६४

अमरता का गभीरतर अर्थ

प्राचीन आध्यात्मिक शिक्षा में यह कभी नहीं माना गया कि अमरता केवल शरीर की मृत्यु के बाद व्यक्ति की सत्ता का बचे रहना ही है : इस अर्थ में तो सभी जीव अमर हैं और केवल उनके रूप ही नष्ट होते हैं। जो जीव मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाते वे पुनरावर्ती युग-युगान्तरों में जीवन-यापन करते हैं; सभी प्राणी व्यक्त लोकों के प्रलय के समय ब्रह्म के अन्दर निवर्तित या निगूढ़ रूप में अवस्थित रहते हैं और नये युगचक्र के आविर्भाव के समय पुनः उत्पन्न होते हैं। प्रलय, अर्थात् एक युगचक्र का अन्त, सत्ता के वैश्व रूप का तथा उस चक्र के आवर्तों में घूमने वाले सभी व्यष्टि-रूपों का अस्थायी विघटन होता है, परन्तु वह केवल एक अल्पकालीन विराम, एक शान्त अन्तराल होता है जिसके बाद नव-सर्जन, पुनर्घटन तथा पुनर्निर्माण का प्रवाह उमड़ पड़ता है जिसमें वे रूप पुनः प्रकट होते तथा अपनी प्रगति के लिए पुनः वेग प्राप्त करते हैं। हमारी दैहिक मृत्यु भी एक प्रकार का

प्रलय है,—*गीता* अभी हाल में ही इस शब्द का प्रयोग इस मृत्यु के अर्थ में करेगी, *प्रलयं याति देहभृत्*, "देह धारण करने वाला जीव प्रलय को प्राप्त होता है", अर्थात्, वह जड़-प्रकृति के उस रूप के विघटन को प्राप्त होता है जिसके साथ उसने अपने अज्ञान के कारण अपनी सत्ता को एक कर रखा था और जो अब पाँच भौतिक तत्त्वों में विलीन हो जाता है। परन्तु स्वयं जीव स्थिर बना रहता है और कुछ अन्तराल के बाद उन तत्त्वों से बने एक नये शरीर में सृष्टिचक्र के अन्दर उसी प्रकार फिर से जन्मों का चक्कर आरम्भ करता है जिस प्रकार विराम और विश्राम के काल के बाद विश्व-पुरुष युग-चक्रों का अपना अनन्त चक्कर फिर से आरम्भ करते हैं। काल के चक्रों के अन्दर इस प्रकार की अमरता सभी देहधारी आत्माओं का एक सर्वसामान्य धर्म है।

अधिक गभीर अर्थ में अमर होना मृत्यु के बाद के इस अस्तित्व तथा इस अनवरत पुनरावर्तन से भिन्न कोई और ही वस्तु है। अमरता वह परा-स्थिति है जिसमें आत्मा को यह ज्ञान होता है कि वह जन्म और मृत्यु से परे है, अपनी अभिव्यक्ति की प्रकृति से परिसीमित नहीं है, अनन्त एवं अविनाशी है, निर्विकार रूप से सनातन है,—अमर है, क्योंकि जन्म न लेने के कारण वह कभी मरती भी नहीं। पुरुषोत्तम भगवान्, जो परमेश्वर और परब्रह्म हैं, इस अमर सनातनता से नित्य युक्त हैं और कोई देह ग्रहण करने या वैश्व रूपों एवं शक्तियों को सतत धारण करने से प्रभावित नहीं होते, क्योंकि वे सदा इस आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित रहते हैं। उनकी प्रकृति ही है, अपनी सनातनता से नित्य सचेतन रहना; वे आत्म-संवित् हैं जिसका कोई आदि नहीं, अन्त नहीं। वे यहाँ घट-घटवासी हैं, पर प्रत्येक घट में वे अजन्मा के रूप में ही विद्यमान हैं, इस प्राकट्य के द्वारा वे अपनी चेतना में सीमित नहीं होते, जिस भौतिक प्रकृति को वे धारण करते हैं उससे तदात्म नहीं हो जाते; क्योंकि वह तो उनकी सत्ता के लीलामय जगद्-व्यापार की एक गौण घटना-मात्र है। पुरुषोत्तम की इस नित्य-सचेतन सनातन सत्ता में निवास करना ही मुक्ति एवं अमरता है। परन्तु यहाँ इस महत्तर आध्यात्मिक अमरत्व तक पहुँचने के लिए देहधारी जीव को अपरा प्रकृति के नियम के अनुसार निवास करना छोड़ देना होगा; उसे भगवान् की परम जीवनधारा का विधान अपनाना होगा, जो वस्तुतः उसकी अपनी सनातन सारभूत

सत्ता का वास्तविक विधान है। अपनी गुप्त मूल सत्ता के समान ही अपने आध्यात्मिक विकास में भी उसे भगवान् के समान धर्मवाला बनना होगा। CWSA खण्ड १९, पृ. ४२१-२३

महानतर सम्भावना

यह स्पष्ट हो जाने पर कि एक सत्ता है जो मनोमयी सत्ता से अधिक सत्य है तथा शारीरिक जीवन से अधिक एक महत्तर जीवन है, यह परिणाम निकलेगा कि निम्न जीवन और उसके रूप और सुखभोग, जिनको सब कुछ मान कर साधारणतया मनुष्य ऐहिक जीवन में प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं, उनकी पूजा करते हैं, वे सुखभोग प्रबुद्ध व्यक्ति की आकांक्षा का विषय नहीं हो सकते। उसकी अभीप्सा को और ऊपर उठना होगा, उसे स्वयं को इस मृत्यु के संसार तथा निरे प्रपञ्चात्मक जीवन से मुक्त करके इनसे परे अपने सच्चे अमृतमय स्वरूप को प्राप्त करना होगा। उसकी सत्ता केवल तभी वास्तविक सत्ता होती है जब यहीं, इसी मर्त्य जीवन में, वह अपने-आपको मर्त्य चेतना से मुक्त कर ले और अमरता तथा शाश्वतता का बोध प्राप्त कर ले, वही हो जाये, अन्यथा उसे अनुभव होता है कि उसने अपने-आपको खो दिया है, वह अपनी मुक्तावस्था से पतित हो गया है। CWSA खण्ड १८, पृ. १६-१७

हम अपना परित्याग करते हैं अपने-आपकी उपलब्धि के लिए। कारण, मनोगत जीवन में हम केवल एक खोज-मात्र कर रहे हैं, कोई अन्तिम उपलब्धि हमें तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि मन का अतिक्रमण न कर दिया जाये। अतः, हमारी समस्त मानसिकता के पीछे हमारी एक परिपूर्णता है जो हमें अपनी वर्तमान सत्ता के विरुद्ध उसकी विलोम-जैसी प्रतीत होती है। कारण, यहाँ हम सतत सम्भूति हैं, वहाँ हम अपनी अनन्त सत्ता-सम्पन्न हैं। यहाँ हमारी अपने विषय में धारणा बनती है कि हम एक परिवर्तनशील चेतना हैं जिसका विकास हुआ है और जिसका काल की गति में अवरुद्ध प्रयास से सर्वदा विकास होता जा रहा है; वहाँ हम एक अव्यय चेतना हैं जिसका काल या समय अधिपति नहीं है, काल उस सबका केवल एक यन्त्र और क्षेत्रमात्र है जिसकी वह चेतना स्रष्टा है, साक्षी है।

यहाँ, हम एक मर्त्य चेतना की व्यवस्था में निवास करते हैं जो एक नश्वर लोक का रूप लेती है; वहाँ, हम उस नित्य आत्मदर्शन के सामञ्जस्य में उन्मुक्त होते हैं जो सम्पूर्ण विश्व को नित्य अमृत की ज्योति में जानता है। परात्पर हमारा सत्य है; वही हमारी परिपूर्णता है, वही हमारी निजी सत्ता का निरपेक्ष सन्तोष है। वह अमृतत्त्व है और वही "वह आनन्द" है।
CWSA खण्ड १८, पृ. २३

ब्रह्म-प्राप्ति

ब्रह्म की प्राप्ति हमारी मर्त्यदशा से अमरत्व में विमुक्ति है, जिससे हमारा तात्पर्य मृत्यु के उपरान्त बने रहना नहीं, बल्कि जन्म और मृत्यु के द्विविध प्रतीकों के परे नित्य सत् और आनन्दस्वरूप अपनी सच्ची आत्मा की उपलब्धि है। अमरत्व से हमारा तात्पर्य है, आत्मा का स्वनिष्ठ जीवन जो उस अनित्य और भंगुर शरीरगत जीवन के विपरीत है जिसे यह आत्मा जन्म और मृत्यु और पुनर्जन्म के द्वारा अपना लेती है, और वह उस मनोमयी सत्ता के जीवन से भी श्रेष्ठ है जो जन्म-मृत्यु के इस नियम के अधीन निरुपाय हुई इस संसार में विचरण करती है अथवा जो, कम-से-कम अपनी अविद्या से अपरा प्रकृति के इस नियम तथा अन्यान्य नियमों के अधीन प्रतीत होती है। अपने उस सच्चे स्वरूप को जानना तथा प्राप्त करना जो नित्य मुक्त है, निरपेक्षतः स्वनिष्ठ है, अपना तथा अपने देवभावों का स्वामी है, जीवात्मा के उत्कर्ष का साधन है; उसको जानना और प्राप्त करना ब्रह्म को जानना और प्राप्त करना है। वही उपलब्धि मर्त्यलोक से अमृतलोक में उन्नयन भी है, बन्धनलोक से ऊपर विशालता के लोक में, ससीम लोक से अनन्त लोक में उद्‌गति है। वही है पार्थिव सुख-दुःख से ऊपर उठ कर एक उच्च और श्रेष्ठ आनन्द में आरोहण।

यह उपलब्धि मर्त्यलोक की वस्तुओं की रूपाकृति के परित्याग के द्वारा करनी होगी। यदि हमें ऐक्य तथा अमरत्व की निष्पत्ति करनी है तो हमें इस जीवन की मृत्यु का तथा इसके द्वन्द्वों का परिहार करना होगा। अतः, यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें इस संसार के पदार्थों को अथवा इसके सम्यक् भाव को, प्रकाश तथा सौन्दर्य को भी अपने जीवन का साध्य बनाना बन्द कर देना होगा। हमें इन सबसे परे एक निःश्रेयस् के प्रति, एक लोकातीत

सत्य, ज्योति तथा सौन्दर्य के प्रति उन्मुख होना होगा जिनमें उस चीज़ के सभी आकार-प्रकार तिरोहित हो जायेंगे जिन्हें हम अशुभ कहते हैं। फिर भी, इस लोक में रहते हुए, हम इसी लोक के किसी तथ्य के माध्यम से इसका अतिक्रमण कर सकते हैं; इसी लोक की रूपाकृतियों के माध्यम से हमें निरपेक्ष स्वयंसत्य को पाना होगा। अतः, हम उन रूपाकृतियों का निरीक्षण करते हैं और यह देखते हैं कि पहले मन, प्राण, वाक् तथा इन्द्रिय के रूप हैं, वे सभी आकार-प्रकार हैं, तथा अपूर्ण संकेतमात्र हैं, और उसके पश्चात् उनके पीछे वे वैश्व सत्य हैं जिनके द्वारा यह एकमेव तत्त्व सक्रिय होता है। इन्हीं वैश्व सत्यों के प्रति हमको अग्रसर होना होगा, और उन्हें उनकी लोकगत साधारण गति और लक्ष्य से परावर्तित करना होगा ताकि वे अपने ही एकमेव ईश्वरभाव में, प्रभु में, ब्रह्म में, अपने ही परमलक्ष्य को तथा अपनी ही निरपेक्ष स्वगति को प्राप्त करें; साधारण मन की प्रक्रियाओं को छोड़ने तथा अतिचेतन परम मन को पाने के लिए, साधारण इन्द्रिय तथा वाक् की प्रक्रियाओं को छोड़ने और अतिमानसिक परमेन्द्रिय तथा आदि परावाक् को पाने के लिए, सांसारिक जीवन की प्रतीयमान क्रियाओं को छोड़ने और लोकोत्तर जीवन को पाने के लिए, उन्हें आमन्त्रित करना होगा।
CWSA खण्ड १८, पृ. ९३-९४

मृत्यु के भय पर विजय पाने का एक और भी तरीक़ा है, लेकिन उस तक इतने कम लोगों की पहुँच है कि यहाँ उसका उल्लेख केवल एक सूचना के रूप में किया गया है। वह है जान-बूझकर और सचेतन रूप से मृत्यु के क्षेत्र में जीते जी प्रवेश करना, और फिर उस लोक से लौट कर भौतिक शरीर में वापस आना, और पूर्ण ज्ञान के साथ भौतिक सत्ता के जीवन-क्रम को फिर से अपना लेना। लेकिन इसके लिए तुम्हें दीक्षा लेनी होगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ९६

शरीर की सीमाएँ

अगर आदमी न मरें तो बुढ़ापे के साथ उनके शरीर बेकार हो जायेंगे?

... वे मृत्यु से तभी बच सकेंगे जब उनके शरीर जीर्ण न हों। शरीर के जीर्ण होने के कारण ही तो वे मरते हैं। क्योंकि उनका शरीर बेकार हो जाता है इसलिए वे मरते हैं। अगर उन्हें मरना नहीं है तो उनके शरीर को भी बेकार नहीं होना चाहिये। यह तो ठीक उलटी बात है। मृत्यु इसी कारण ज़रूरी होती है कि शरीर जीर्ण हो जाता है, क्षीण होता और पूरी तरह अधोगति को प्राप्त हो जाता है। लेकिन अगर शरीर आन्तरिक सत्ता की प्रगतिशील क्रिया का अनुसरण करे, अगर उसके अन्दर भी प्रगति और पूर्णता की वही भावना हो जो चैत्य पुरुष में होती है तो फिर उसके मरने की कोई ज़रूरत न रहेगी। एक के बाद एक बढ़ता हुआ वर्ष, ज़रूरी नहीं है कि अधोगति ही लाये। यह तो 'प्रकृति' की एक आदत है। यह तो इस क्षण जो हो रहा है उसकी आदत है। और ठीक यही मृत्यु का कारण है। इसके विपरीत, हम यह भली-भाँति देख सकते हैं कि पूर्णता की क्रिया जो जीवन के शुरू में होती है वह किसी और रूप में जारी रह सकती है। मैं तुमसे पहले ही कह चुकी हूँ कि हम किसी अबाध वृद्धि का पूर्वज्ञान नहीं पाते, क्योंकि तब तो हमें कुछ समय बाद घरों की ऊँचाई बदलनी होगी! परन्तु लम्बाई में वृद्धि, पूर्णता में वृद्धि का रूप ले सकती है: रूप की पूर्णता। रूप की सभी अपूर्णताएँ धीरे-धीरे ठीक की जा सकती हैं, सभी कमज़ोरियों की जगह बल ले सकता है, सभी अक्षमताओं के स्थान पर कौशल आ सकता है। और ऐसा क्यों न हो? तुम इस तरह इसलिए नहीं सोचते क्योंकि तुम्हें चीज़ों को और तरह देखने की आदत हो गयी है। लेकिन इसका कोई कारण नहीं कि ऐसा क्यों न हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १२२-२३

सच्ची अमरता

... बहुत पहले यहाँ ऐसे लोग थे जो यह समझ कर आये थे कि आश्रम में भर्ती हो जाना ही अमर होने के लिए काफ़ी है। और उन्होंने अमर होने के लिए बहुत अभीप्सा की। स्वाभाविक ही है कि वे ऐसे बूढ़े

थे जिन्हें अपने सम्मुख बहुत लम्बा रास्ता दिखायी नहीं दे रहा था और जो उसे असीम रूप से लम्बा बनाने की इच्छा रखते थे—क्योंकि यही चीज़ है जिसे मनुष्य "अमरता" के नाम से जानते हैं—वे जो कुछ हैं बस उसे ही अनन्त काल तक बनाये रखें। अतएव, जिस व्यक्ति ने सबसे पहले यह फबती कसी उसे मैंने उत्तर दिया—"मैं नहीं जानती कि प्रत्येक मनुष्य अमर बन सकता है या नहीं—सम्भवतः नहीं—परन्तु जिन लोगों में अमर होने की क्षमता है उनमें से भी कितने लोग ऐसे हैं जो उसका मूल्य चुकाने के लिए प्रस्तुत हैं?" क्योंकि, उसके लिए जिन चीज़ों का त्याग करना ज़रूरी है उनकी संख्या इतनी अधिक है कि शायद आधे रास्ते तक जाकर वे कह उठेंगे : "ओह! नहीं, मूल्य बहुत अधिक है!" मुझे एक चित्रकार की बात याद है जिससे अमरता की सम्भावना के सम्बन्ध में मेरी बातचीत हुई थी। उसने मुझसे पूछा—"नया जगत् किस तरह का होगा?" मैंने उससे कहा —"उदाहरण के रूप में, वस्तुएँ स्वयं अपने-आपमें ज्योतिर्मय होंगी और जैसे सूर्य से पृथ्वी पर प्रतिफलित ज्योति आती है उस तरह की फिर कोई ज्योति नहीं होगी।" जिस समय मैं उससे यह बात कह रही थी, मैंने देखा कि उसका चेहरा अधिकाधिक लम्बा, अधिकाधिक गम्भीर होता जा रहा है; अन्त में वह बोला, "परन्तु उस समय मनुष्य छाया के अभाव में चित्रकारी कैसे कर सकेगा? छाया ही तो वस्तुओं की ज्योति को स्पष्ट प्रकट करती है।"... मैंने उससे कहा—"आपने समस्या की ठीक चाबी प्रदान की है।"

... सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, सबसे अधिक कठिन चीज़ है अहंकार का त्याग। जो व्यक्ति इसके लिए तैयार नहीं है उसके लिए यह मृत्यु के ही समान है और ऐसी मृत्यु के समान है जो शारीरिक मृत्यु से बहुत अधिक है, क्योंकि उनके लिए अहंकार की मृत्यु ठीक अस्तित्व के ही विलीन हो जाने के समान है—वैसे यह बात सही नहीं है पर वह ऐसी ही छाप आरम्भ में डालती है। अमर होने के लिए मनुष्य को समस्त सीमाबन्धनों का परित्याग करना होगा और अहं ही सबसे बड़ा सीमाबन्धन है; अतएव, यदि "मैं" अमर नहीं हूँ तो उससे भला क्या लाभ?

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ८१-८२

जीवन शाश्वत है। केवल शरीर लुप्त हो जाता है। —श्रीमाँ

शारीरिक रूपान्तर

... तो अगर तुमने शरीर को रूपान्तरित करने का निश्चय कर लिया है तो तुम्हें धीरज के साथ प्रतीक्षा करनी होगी—तीन सौ वर्ष, पाँच सौ वर्ष, एक हज़ार वर्ष, इसका कोई महत्त्व नहीं है—परिवर्तन में चाहे जितना समय लगे। मैं सोचती हूँ कि तीन सौ वर्ष कम-से-कम हैं। सच कहूँ तो, मुझे चीज़ों का जो अनुभव है, मेरा ख़याल है कि यह सचमुच कम-से-कम है।

... तुमने कभी सोचा भी नहीं कि इसका क्या मतलब है, सोचा है? तुम्हारा शरीर कैसे बना है? सभी अवयवों, सभी क्रियाओं के साथ शुद्ध पाशविक रूप में। तुम पूरी तरह निर्भर हो: यदि तुम्हारा हृदय एक सेकेण्ड के हज़ारवें हिस्से के लिए भी बन्द हो जाये तो क़िस्सा ख़तम, तुम चले जाते हो। सारी चीज़ चलती रहती है और तुम्हारी सचेतन इच्छा के बिना अपने-आप चलती रहती है (यह तुम्हारे लिए सौभाग्य की बात है, यदि तुम्हें उस कार्य-कलाप की निगरानी करनी होती तो वह बहुत पहले ग़लत रास्ते पर चला गया होता!)। यह सब तो है ही। सब कुछ ज़रूरी है, क्योंकि यह इसी रूप में संगठित किया गया था। तुम किसी अवयव के बिना काम नहीं कर सकते, कम-से-कम पूरी तरह नहीं कर सकते, कोई ऐसी चीज़ होनी चाहिये जो उसका स्थान ले सके।

रूपान्तर में यह बात आ जाती है कि इस पूरी तरह से भौतिक व्यवस्था का स्थान शक्ति के केन्द्रों की व्यवस्था ले ले जिसमें अमुक प्रकार के विभिन्न स्पन्दन होते हैं; हर अवयव और इन्द्रिय का स्थान सचेतन ऊर्जा का केन्द्र ले ले जिसका सञ्चालन सचेतन संकल्प करे और नियमन ऊपर से, उच्चतर क्षेत्रों से आने वाली गति। आमाशय नहीं, हृदय नहीं, रक्तसञ्चार नहीं, फुफ्फुस नहीं...। ये सब ग़ायब। और इन सबके स्थान पर स्पन्दनों की शृंखला—जो उसका प्रतिनिधित्व करेगी, अवयव जिसका प्रतीक हैं। क्योंकि अवयव या इन्द्रियाँ ऊर्जा के केन्द्रों के भौतिक प्रतीक-भर हैं, वे तात्त्विक सद्वस्तु नहीं हैं। वे उसे केवल एक आकार या किन्हीं परिस्थितियों में सहारा देते हैं। तब रूपान्तरित शरीर अपने वास्तविक ऊर्जा-केन्द्रों के द्वारा काम करेगा, पाशविक शरीर में बने उनके प्रतीकात्मक प्रतिनिधियों द्वारा नहीं। इसलिए सबसे पहले तुम्हें यह जानना चाहिये कि वैश्व ऊर्जा में तुम्हारा हृदय किस चीज़ का प्रतिनिधि है, रक्तसञ्चार किस चीज़ का प्रतिनिधि

है, आमाशय और मस्तिष्क किस चीज़ के प्रतिनिधि हैं। शुरू में, पहले तो तुम्हें इस सबके बारे में सचेतन होना होगा। और तब ये अवयव या इन्द्रियाँ जिन मौलिक स्पन्दनों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे तुम्हारे अधिकार में होने चाहियें। और तुम्हें धीरे-धीरे अपने शरीर में इन सब ऊर्जाओं को इकट्ठा करना होगा और हर अवयव के स्थान पर सचेतन ऊर्जा के केन्द्र को लाना होगा जो प्रतीकात्मक क्रिया के स्थान पर वास्तविक क्रिया को लायेगा...। तुम्हें लगता है कि यह सब करने में बस तीन सौ वर्ष ही लगेंगे? मुझे तो लगता है कि एक ऐसा रूप पाने में तीन सौ वर्ष से बहुत अधिक समय लगेगा जिसमें ठीक वही गुण नहीं होंगे जिन्हें हम जानते हैं, बल्कि बहुत अधिक श्रेष्ठ गुण होंगे; एक ऐसा रूप जिसके बारे में हम यह स्वप्न ले सकते हैं कि वह नमनीय होगा: जैसे तुम्हारे भावों के साथ चेहरे का भाव भी बदलता है, उसी तरह तुम शरीर से जो व्यक्त करना चाहते हो उसके अनुसार शरीर भी बदलेगा (रूप नहीं, उसी रूप के अन्दर), वह बहुत घन हो सकता है, बहुत विकसित, बहुत आलोकमय, बहुत शान्त हो सकता है जिसमें इच्छानुसार पूर्ण नमनीयता, पूर्ण लचीलापन, हल्कापन होगा...। क्या तुमने ऐसा स्वप्न नहीं देखा जिसमें तुम धरती को लात मार कर ऊपर उठ जाते हो और हवा में उड़ते फिरते हो? तुम इधर-उधर घूमते हो। तुम अपने कन्धे से ज़रा-सा धक्का देते हो और इस ओर चले जाते हो; तुम फिर धक्का देते हो और उस ओर चले जाते हो। तुम आसानी से जहाँ चाहो चले जाते हो और अन्त में यह सब करके तुम अपने शरीर में लौट आते हो। हाँ, तो तुम्हें यह सब अपने शरीर के साथ कर सकना चाहिये, और श्वासोच्छ्वास के साथ सम्बन्ध रखने वाली कुछ चीज़ें भी—लेकिन वहाँ फेफड़े न होंगे। प्रतीकात्मक गति के पीछे एक सच्ची गति होती है जो तुम्हें हल्केपन की यह क्षमता देती है। तुम अब गुरुत्वाकर्षण के तन्त्र से बच निकलते हो (श्रीअरविन्द के मतानुसार श्वासोच्छ्वास के पीछे भी वही शक्ति काम करती है)। यही बात प्रत्येक अवयव के बारे में होती है।

कल्पना का कहीं कोई अन्त नहीं: जब चाहो अलोकमय बन जाओ, जब चाहो पारदर्शक बन जाओ। स्वभावतः इस शरीर में हड्डियों की ज़रूरत न रहेगी। यह हड्डी, चमड़ी और आँतों का शरीर न होगा। यह और ही चीज़ होगी। यहाँ संकल्प की आज्ञा मानने वाली घनीभूत ऊर्जा होगी। इसका

यह अर्थ नहीं है कि कोई निश्चित या पहचाने जा सकने वाले रूप न होंगे। रूप ठोस कणों से नहीं, गुणों से बने होंगे। यह कहा जा सकता है कि वह क्रियात्मक और व्यावहारिक रूप होगा। वह स्थूल भौतिक शरीर की स्थिरता की तुलना में सुनम्य, गतिशील और इच्छानुसार हल्का होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ६५-६७

चेतना का परिवर्तन

चेतना का परिवर्तन आवश्यक है और इसके बिना कोई भौतिक सिद्धि उपलब्ध नहीं हो सकती। लेकिन अगर शरीर जैसा है वैसा ही बना रहे, यानी मृत्यु, व्याधि-रोग, क्षय, दुःख-दर्द, अचेतना तथा अज्ञान के अन्य सभी परिणामों का दास ही बना रहे तो अतिमानसिक परिवर्तन अपनी सम्पूर्णता में कभी सम्भव ही न होगा। अगर इन्हें बने ही रहना है तो अतिमानस के अवतरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है—क्योंकि चेतना का वह परिवर्तन जो भगवान् के साथ मानसिक-अतिमानस तादात्म्य ले आये उसके लिए तो अधिमानस या उच्चतर मानस ही पर्याप्त है। अतिमानस का अवतरण तो मन, प्राण तथा शरीर में 'सत्य' की गतिशील तथा ऊर्जस्वी क्रिया के लिए आवश्यक है। इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि शरीर की अचेतनता विलीन हो जायेगी, वह क्षय और रोग-शोक के अधीन न रहेगा। इसका यह अर्थ होगा कि वह उन सामान्य प्रक्रियाओं के अधीन न रहेगा जिन्हें मृत्यु ले आती है। अगर शरीर का परिवर्तन करना होगा तो वह शरीर धारण करने वाले की मरज़ी से होगा। यह होगा (३००० साल जीने की बाध्यता नहीं, क्योंकि यह तो एक बन्धन हो जायेगा) भौतिक अमरता का सारतत्त्व। फिर भी, अगर कोई १००० या उससे अधिक वर्ष जीना चाहेगा तो अगर उसने पूर्ण सिद्धि पा ली हो तो यह करना उसके लिए असम्भव न होगा।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३१०

मृत्यु पर विजय

जहाँ तक मृत्यु पर विजय पाने की बात है, यह अतिमानसभावापन्नता के परिणामों में से एक है—और मैं इस तथ्य से अभिज्ञ नहीं हूँ कि

अतिमानस के अवतरण के अपने दृष्टिकोणों का मैंने कभी त्याग किया हो। लेकिन साथ ही मैंने कभी यह भी नहीं कहा या सोचा कि अतिमानस का अवतरण अपने-आप ही हर एक को अमर बना देगा। अतिमानसिक अवतरण केवल उस व्यक्ति को उत्तमोत्तम अवसर प्रदान कर सकता है जो तब उस अवतरण के प्रति खुल सके और उसके बाद अतिमानसिक चेतना और उसके परिणामों को प्राप्त कर ले। लेकिन यह सब साधना किये बिना नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा होता तो इसका तर्कपूर्ण परिणाम यह निकलता कि तब तो सारी दुनिया, मनुष्य, कुत्ते और कीड़े सभी एक दिन अचानक अपने-आपको अतिमानसिक जगत् में आँखें खोलते हुए पायेंगे! तब तो किसी आश्रम या योग की आवश्यकता ही न रहेगी।

मुख्य चीज़ है, चेतना का अतिमानसिक परिवर्तन—मृत्यु पर विजय गौण है, जैसा कि मैंने हमेशा कहा है, यह अवतरण का अन्तिम भौतिक परिणाम है, पहला या सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम नहीं—यह समग्रता में सम्पूर्णता लाने के लिए जोड़ी जाने वाली चीज़ है, एकमात्र आवश्यक या अनिवार्य वस्तु नहीं। मृत्यु पर विजय को पहला स्थान देने का अर्थ होगा, सभी आध्यात्मिक मूल्यों को उलट देना—साथ ही इसका अर्थ होगा कि जिज्ञासु किसी उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य से प्रेरित नहीं है, बल्कि उसके अन्दर जीवन के प्रति एक प्राणिक चिपटाव होता है या अपने शरीर की सुरक्षा के लिए वह स्वार्थभरी और कातर खोज में लगा रहता है—ऐसा मनोभाव अतिमानसिक परिवर्तन कभी नहीं ला सकता।

भौतिक अमरता

अतिमानसिकता के बिना शरीर में अमरता नहीं आ सकती; यौगिक शक्ति में यह सामर्थ्य होती है कि योगी २०० या ३०० साल या उससे भी अधिक जी सकें, लेकिन अतिमानस के बिना कोई सच्चा सिद्धान्त अपने पैरों पर नहीं खड़ा रह सकता।

यहाँ तक कि विज्ञान भी अब इस पर विश्वास करने लगा है कि भौतिक साधनों के द्वारा मृत्यु को सम्भवतः जीता जा सकता है और उसके तर्क एकदम से उचित मालूम होते हैं। इसका कोई कारण नहीं कि 'अतिमानसिक शक्ति' इसे क्यों नहीं करेगी। पृथ्वी पर रूप और आकार चिरकाल के लिए

इसलिए नहीं ठहरते (दूसरे क्षेत्रों में ऐसा होता है) क्योंकि आत्मा की प्रगति को उत्तरोत्तर अभिव्यक्त करने के लिए ये रूप बहुत कठोर और अनम्य होते हैं। अगर ये पर्याप्त रूप से सुनम्य बन जायें तो इसका कोई कारण नहीं कि ये हमेशा के लिए क्यों न बने रहें।

जहाँ तक अमरता की बात है, वह तब तक नहीं आ सकती जब तक शरीर के प्रति आसक्ति बनी रहे—क्योंकि अपनी सत्ता के अमर भाग में ही रह कर—जो शरीर के साथ तदात्म नहीं होता—और उस भाग की चेतना और शक्ति को कोषाणुओं में उतार कर ही अमरता को पाया जा सकता है। मैं यौगिक साधनों तथा तरीक़ों की बात कर रहा हूँ। अब वैज्ञानिक यह कहने लगे हैं (कम-से-कम सिद्धान्त रूप में) कि ऐसे भौतिक साधनों की खोज सम्भव है जिनसे मृत्यु को जीता जा सके, लेकिन उसका अर्थ होगा, बस वर्तमान शरीर में, वर्तमान चेतना का दीर्घीकरण—जब तक कि चेतना और उसके क्रिया-कलाप, उसकी गतियों में परिवर्तन न आये तब तक हमें सचमुच कोई लाभ न होगा।

अमरता अतिमानसिकभावापन्नता के कई परिणामों में से एक है, लेकिन यह उसका अनिवार्य परिणाम नहीं है और इसका यह अर्थ भी नहीं है कि जीवन जैसा है उसी का दीर्घीकरण शाश्वत या अनिश्चित काल तक चलता रहेगा। कई लोग सोचते हैं कि ऐसा ही होगा, कि वे जैसे हैं वैसे ही बने रहेंगे, उनकी जितनी मानव लालसाएँ और कामनाएँ हैं वे साथ-साथ रहेंगी, बस फ़र्क इतना ही होगा कि वे उनका अनन्त काल तक उपभोग कर, अपने-आपको सन्तुष्ट कर सकेंगे; लेकिन ऐसी अमरता का तो कोई मूल्य ही नहीं होगा और लोग उससे बड़ी जल्दी तंग भी आ जायेंगे। भगवान् में रहना और भागवत चेतना को अपने अन्दर सँजोये रखना—यह अपने-आप में अमरता है और शरीर को दिव्य बनाना तथा इसे भागवत कार्यों तथा भागवत जीवन के लिए उपयुक्त यन्त्र बनाना—यह होगी भगवान् के प्रति शरीर की सहज भौतिक अभिव्यक्ति।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३१२-१४ **श्रीअरविन्द**

हे प्रभो, तेरी इच्छा पूरी हो। तू ही परम और पूर्ण सुरक्षा है।
—श्रीमाँ

अतिमानसिक शरीर

जिस अतिमानसिक शरीर को यहाँ प्रकट करना है उसके चार मुख्य गुण होंगे : हल्कापन, अनुकूलनशीलता, नमनीयता और ज्योति। जब भौतिक शरीर पूरी तरह दिव्य हो जायेगा तो ऐसा लगेगा कि मानों वह हमेशा हवा पर चल रहा है, जिसमें कोई भारीपन या तमस् या अचेतना न होगी। उसकी अनुकूलनशीलता की कोई सीमा न होगी : वह चाहे जिन परिस्थितियों में हो, तुरन्त अपने-आपको उनकी माँग के अनुकूल बना लेगा, क्योंकि उसकी पूर्ण चेतना उस तमस् और अक्षमता को निकाल बाहर करेगी जो 'जड़-पदार्थ' को 'आत्मा' के लिए बोझ बना देती है। अतिमानसिक नमनीयता उसे भेदने की कोशिश करने वाली हर विरोधी शक्ति के आक्रमण का सामना करने के योग्य बना देगी : वह आक्रमण का निर्जीव प्रतिरोध न करेगी, बल्कि इसके विपरीत, इतनी लचीली होगी कि उसे निकल जाने का रास्ता दे देगी और इस तरह उसे निष्क्रिय बना देगी। इस तरह कोई हानिकर परिणाम न आ पायेंगे और अत्यन्त घातक आक्रमण भी उसे सही-सलामत छोड़ जायेंगे। और अन्त में, वह एक ज्योतिर्मय पदार्थ में बदल जायेगा जिसका हर कोषाणु अतिमानसिक भव्यता को विकीरित करेगा। केवल वे ही नहीं जो इतने विकसित हैं कि उनकी सूक्ष्म दृष्टि खुल गयी हो, साधारण मनुष्य भी इस ज्योति को देख सकेगा। यह हर एक के लिए एक स्पष्ट तथ्य होगा, रूपान्तर का एक स्थायी प्रमाण होगा जो बड़े-से-बड़े शंकाशील व्यक्ति को भी विश्वास दिला देगा।

शारीरिक रूपान्तर परम आध्यात्मिक पुनर्जन्म होगा—यह सामान्य भूतकाल को एकदम दूर कर देगा। क्योंकि आध्यात्मिक पुनर्जन्म का अर्थ है अपने पिछले सम्बन्धों, संसर्गों और परिस्थितियों को दूर हटा कर, मानों हर अछूते क्षण एक नया जीवन जीना। वह कर्मभोग से, अपने पुराने कर्मों की धारा से मुक्त होगा : दूसरे शब्दों में कहें तो प्रकृति की सामान्य कार्य-कारणवाली गतिविधि के बन्धनों से मुक्त होगा। जब हम अपनी चेतना में विजयी होकर भूत को एकदम काट कर अलग कर सकेंगे तो ये सब भूलें, अपराध, मूर्खताएँ आदि जो अभी तक हमारी स्मृति में बहुत जीवन्त रूप में चिपकी हुई हैं और जोंकों की तरह हमारा जीवन-रक्त पी रही हैं, अपने-आप झड़ जायेंगी और हमें आनन्दमग्न और स्वतन्त्र छोड़

जायेंगी। यह स्वाधीनता केवल विचारों की चीज़ नहीं है, यह अत्यधिक ठोस, व्यावहारिक और भौतिक तथ्य है। सचमुच हम स्वतन्त्र हैं, हमें कोई चीज़ नहीं बाँधती, हमारे ऊपर कोई चीज़ असर नहीं करती और ज़िम्मेदारी का कोई भूत हमारे सिर पर सवार नहीं है। अगर हम प्रतिक्रिया करना चाहें, अपने भूत को मिटाना या उससे बाहर निकलना चाहें तो यह केवल पश्चात्ताप या इसी तरह की और चीज़ों के द्वारा नहीं हो सकता। हमें यह भूल जाना होगा कि अरूपान्तरित भूत का कभी अस्तित्व भी था, चेतना की एक ऐसी ज्योतिर्मयी अवस्था में प्रवेश करना होगा जो सब प्रकार की जकड़नों से मुक्त कर देती है। पुनर्जन्म लेने का मतलब है, सबसे पहले, अपनी चैत्य चेतना में प्रवेश करना जहाँ हम भगवान् के साथ एक होते हैं और कर्मफल से सदा-सदा के लिए मुक्त होते हैं। चैत्य का परिचय पाये बिना यह सम्भव नहीं है; लेकिन एक बार हम अपनी सच्ची अन्तरात्मा के बारे में निश्चित रूप से सचेतन हो जायें, जो हमेशा भगवान् को समर्पित रहती है, तो सब बन्धन समाप्त हो जाते हैं। तब जीवन निरन्तर नये रूप में शुरू होता है और भूत हमारे साथ चिपका नहीं रहता। तुम्हें आध्यात्मिक पुनर्जन्म के उच्च शिखरों का कुछ आभास देने के लिए मैं कह सकती हूं कि तुम्हें ऐसी अनुभूति हो सकती है कि सारा विश्व सचमुच हर क्षण ग़ायब होता रहता है और हर क्षण नया पैदा होता जाता है!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १८६-८८

क्रमविकास में मृत्यु का होना इसलिए अनिवार्य होता है क्योंकि शरीर और अधिक प्रगति नहीं कर सकता—वह प्रगति का यन्त्र बने रहने या चेतना के क्रमविकास को और आगे नहीं बढ़ा सकता—तब उसे अपने वर्तमान भौतिक यन्त्र को बदल कर नया लेना होता है। अगर किसी ऐसी चीज़ को लाया जा सके जो शरीर को अन्तरात्मा के लिए एक नमनीय यन्त्र बना दे, केवल तभी मृत्यु अनिवार्य नहीं रहती। अगर अतिमानसिक रूपान्तर पूर्ण हो जाये तब ऐसा होना चाहिये और हो सकता है।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३१० श्रीअरविन्द

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

दिसम्बर

१. आन्तरिक विकास के बिना बाहरी प्रगति सम्भव नहीं है।

२. तुम जो भी करो, भगवान् को सदा याद रखो। भगवान् के चिन्तन का वैभव कितना शान्त, कितना उदात्त और कितना पवित्र होता है।

३. जब कोई गड़बड़ होती है तो तुम्हें हमेशा अपने अन्दर ही उसके कारण को ढूँढ़ना चाहिये, छिछले रूप में नहीं, अपने अन्दर गहराई में और व्यर्थ में अपने दोष पर रोने-धोने के लिए नहीं बल्कि भगवान् की सर्वसमर्थ शक्ति को अपनी सहायता के लिए बुला कर दोष का उपचार करने के लिए।

४. कम बोलो, सच्चे बनो, पूर्ण निष्कपटता के साथ काम करो। मौन रहने की शक्ति में बड़ा बल है।

५. हमेशा सच्चे बने रहने से बढ़ कर और कोई साहस नहीं है।

६. कार्यों में 'पूर्णता' की अभीप्सा सच्ची आध्यात्मिकता है। प्रगति में ही सच्चा आनन्द है।

७. प्रार्थना वही है जो सीधे हृदय से तीव्रता के साथ, मस्तिष्क में से गुज़रे बिना आनी चाहिये। यदि वे तुम्हारे मस्तिष्क में धक्कम-धक्का करने वाले केवल शब्द हों तो फिर वह कोई प्रार्थना बिलकुल नहीं रह जाती।

८. भगवान् के लिए कार्य करना, शरीर द्वारा प्रार्थना करना है।

९. औरों के साथ सख़्ती बरतने से पहले अपने साथ कठोर बनो। अपने ऊपर नियन्त्रण रखने से बढ़ कर कोई और विजय नहीं है।

१०. तुम्हारी साधना में महत्त्वपूर्ण चीज़ है पग-पग पर सच्चाई। अगर वह हो तो भूलें सुधारी जा सकती हैं और उनका बहुत महत्त्व नहीं होता। अगर ज़रा भी कपट हो तो वह तुरन्त साधना को नीचे खींच लेता है।

११. अन्तर में निवास करो, बाहरी परिस्थितियों से विचलित न होओ।

१२. एक दिन में कोई अपने स्वभाव पर विजय नहीं पाता। लेकिन धैर्यपूर्ण और सहनशील संकल्प द्वारा विजय निश्चित होती है।

१३. हम हमेशा उचित वस्तु करें तो हमेशा शान्त और सुखी रहेंगे।
१४. अगर कोई सदा मुस्कुरा सके तो वह सदा युवक रहता है।
१५. स्थिर आशा मार्ग में बहुत सहायता देती है। धीरज और अध्यवसाय के साथ सभी प्रार्थनाएँ सफल होती हैं।
१६. जो पूर्णता के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहता है उसे मार्ग की कठिनाइयों के बारे में कभी शिकायत न करनी चाहिये क्योंकि हर कठिनाई एक नयी प्रगति का अवसर है। शिकायत कमज़ोरी और सच्चाई के अभाव का चिह्न है।
१७. बिना अवसाद के सहन करने की क्षमता है सहनशीलता।
१८. अध्यवसायी संकल्प सभी कठिनाइयों पर विजय पाता है।
१९. मानसिक ग्रहणशीलता : सीखने के लिए हमेशा तैयार।
२०. नीरवता में ही सच्ची प्रगति की जा सकती है।
२१. अगर तुम अन्दर से शान्ति की माँग करो तो वह आयेगी।
२२. संकट के समय पूर्ण अचञ्चलता की ज़रूरत होती है।
२३. असफलता में, और सफलता में भी 'भागवत कृपा' हमेशा मौजूद रहती है।
२४. पूरी तरह सच्चे बनो, और कोई विजय तुम्हारे लिए दुर्लभ न होगी।
२५. सच्चाई भगवान् के दरवाज़ों की चाबी है।
२६. सत्य की एक बूँद मिथ्या सूचनाओं के सागर से ज़्यादा मूल्यवान् है।
२७. ईमानदारी का सबसे बड़ा पुरस्कार है—शान्तिपूर्ण हृदय।
२८. हम भगवान् के कार्य के पूर्ण यन्त्र बनने के लिए सतत अभीप्सा करें।
२९. अपने जीवन को व्यवस्थित करो और तुम देखोगे कि प्रत्येक चीज़ के लिए तुम्हारे पास अवकाश है।
३०. कामना को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा उसे जीत लेना ज़्यादा आनन्द लाता है।
३१. तुम्हें अन्दर जाना सीखना चाहिये और केवल बाह्य चीज़ों में जीना बन्द कर देना चाहिये।
मन को स्थिर करो और अपने अन्दर माँ के कार्य के बारे में अभिज्ञ होने के लिए अभीप्सा करो।

नानी माँ

(शुरु से आख़ीर तक चाशनी में पगी कुछ अधिक लम्बी यह कहानी, जो दिसम्बर २०२० में केवल *on line* गयी थी, उसे पन्नों पर उतार कर पाठकों तक पहुँचाने में हम विशेष आनन्द का अनुभव कर रहे हैं ताकि अब अधिकाधिक पाठक इसे सराह सकें—सं.)

फागुन की गुनगुनी धूप पूरी छत पर फैली हुई थी। छत की मुँडेरों पर बैठी चिड़िया, कबूतर और गौरेया भी मानों इस गुनगुनाहट को सुन रही थीं। आज बहुत समय बाद अनुभा को धूप में बैठने का अवसर मिला था और सच कहा जाये तो बरसों बाद कुछ ख़ाली-ख़ाली से निश्चिन्त से क्षण उसके जीवन में आये थे। दिल्ली की आपा-धापी वाली ज़िन्दगी से वह बुरी तरह ऊब गयी थी। उसे लगता था कि उसका एक-चौथाई जीवन तो लोकल बस में यात्रा करने, 'ट्रैफ़िक लाइट्स' की बत्तियों को देखने में ही व्यतीत हो जायेगा। सड़कों पर भागती गाड़ियाँ देख कर उसे वैराग्य-सा होने लगा था। यूनिवर्सिटी कैम्पस में एक से एक बढ़ कर महँगे कपड़े पहने छात्राओं को देख कर मन में कोफ़्त सी होने लगी थी। हिन्दी भाषा के अस्तित्व का नामोनिशान नहीं रह गया था; कैम्पस में जिसे देखो वही पाश्चात्य संस्कृति में डूबा हुआ मानों पाश्चात्य संस्कारों को पूर्णतः आत्मसात् किये हुआ था। उसे वहाँ गये चार साल हो चुके थे। सुबह आठ बजे घर छोड़ देती थी और रात को आठ बजे तक ही आ पाती थी। इन बारह घण्टों में चार घण्टे लोकल बस की यात्रा में, चार घण्टे कॉलेज में और शेष चार घण्टे कोचिंग में व्यतीत हो जाते थे। इस व्यस्ततम जीवन में उसे याद आता था अपना घर जहाँ मिठास घुली रहती थी। अपनत्व में रचे-बसे अपने घर के सामने उसे दिल्ली महानगर बहुत बौना-सा प्रतीत होता था। कहने के लिए दिल्ली में भी बुआ थीं। एक ही बार वह गयी थी उनके यहाँ तो उसे लगा था विदेश में आ गयी है। होली की छुट्टियों से कुछ ही दिन पहले मेहा दीदी का पत्र आया था। लिखा था, 'अनुभा! इस बार छुट्टियों में नानी के पास ज़रूर रह कर आना। बहुत याद करती हैं तुम्हें।...' नानी से उसे भी बहुत लगाव था। मम्मी की नौकरी के कारण

नानी कई-कई दिन उन लोगों के पास रह जाती थीं। नानी का समर्पित स्नेह और लाड़-दुलार उसकी साँस-साँस में समाया हुआ था। मम्मी ने भी फ़ोन पर यही कहा था कि नानी से मिलते हुए ही आना। नानी न जाने कब और कैसे उसके अन्दर आत्मसात् होती चली गयी थीं, पर होली के निकट आते ही होली, नानी, गुजिया, दही बड़े और वह... सब कुछ मानों एकाकार-सा हो रह जाता था।

'क्या सोच रही हो बिटिया?' वात्सल्य-झरती आँखों से नानी पूछ रही थीं।

'कुछ नहीं नानी माँ। बहुत समय बाद धूप मिली है, छत मिली है और तुम मिली हो।' उसने लाड़ से नानी के गले में बाँहें डाल दीं। नानी माँ की आँखों में सावन लहरा उठा। 'क्या हुआ नानी?' अनुभा स्वयं अकुला उठी थी।

'कुछ नहीं बिटिया! बहुत दिनों बाद मेरा अकेलापन टूटा है न। अतः मन भर आया...।'

'अरे वाह नानी माँ। तुम तो अच्छी-ख़ासी कविता कर लेती हो।' अनुभा ने वातावरण को सहज बनाने का प्रयास करते हुए कहा।

'कविता और मैं...।' नानी के चेहरे पर पीड़ा की लकीरें और गहरी हो उठी थीं। तार पर फैले सूखे कपड़े उतारने के बाद नानी उसके पास आकर बैठ गयी थीं और प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरने लगीं। न जाने क्या जादू था उस स्नेहिल स्पर्श में कि अनुभा के मन में जमी महानगरीय औपचारिकताओं का धुआँ छँटने लगा था और उसका मन हलका-फुलका सा होकर... न जाने किस लोक में पहुँच गया।

'एक बात बताओ नानी! तुम सारे दिन अकेले-अकेले क्या करती रहती हो यहाँ? मम्मी-पापा तुम्हें कितना बुलाते हैं अपने पास। वहाँ जाकर क्यों नहीं रहतीं? तुम्हारा अकेलापन भी दूर हो जायेगा और वहाँ भी सब ख़ुश हो जायेंगे।' नानी के अकेलेपन का सहारा बनते हुए उसने कहा।

'बिटिया! बेटी के घर बहुत दिन रहना अच्छा नहीं लगता। जब वहाँ मेरी ज़रूरत थी तो मैं कई-कई दिन रह आती थी पर अब तो ऐसी कोई बात नहीं है। जब तुम लोग छोटे-छोटे थे, तब तो कई-कई महीने भी रह कर आती थी वहाँ पर, अब... अच्छा नहीं लगता बिटिया।' उदास फागुन

नानी माँ की आँखों से बरस उठा था।

अनुभा को लग रहा था कि बहुत समय बाद नानी ने अपने घर में किसी अपने की उपस्थिति महसूस की, अतः बहुत भावुक हो रही हैं। उसने उनका ध्यान बँटाने के उद्देश्य से कहा, 'नानी! बहुत दिन हो गये, तुम्हारे हाथ के बने बेसन के लड्डू नहीं खाये हैं। इस बार ख़ूब सारे बना देना। मैं होस्टल में भी ले जाऊँगी।'

'हाँ-हाँ, क्यों नहीं? ऐसा करो, तुम थोड़ी देर छत पर आराम कर लो, मैं बेसन भूनती हूँ जाकर।' फ़टाफ़ट सूखे कपड़े उठा कर नानी नीचे चली गयीं। अनुभा आराम से चारपाई पर लेट गयी। बन्द आँखों में न जाने कितने स्मृति-चित्र थे जो एक के बाद एक साकार होने लगे। आज से लगभग सोलह-सतरह साल पहले की बात है जब वह तीन-चार साल की रही होगी। मम्मी एक प्राइमरी स्कूल में पढ़ाती थीं तब पापा बैंक में थे; दादी अपनी भरी-पूरी गृहस्थी के दायित्वों में कुछ अधिक घिरी होने के कारण आने में असमर्थ थीं अतः नानी को ही आना पड़ता था। तब तो नाना भी थे। नानी बच्चों के पास आ जाती थीं पर उनका एक मन नाना के पास बरक़रार रहता था। कई बार वे खाना खाते-खाते बीच में ही उठ जाती थीं। मेहा दी पूछती थीं, 'क्या हुआ नानी माँ? खाना क्यों छोड़ दिया?'

'बिटिया! तुम्हारे नाना ने अकेले में वहाँ कुछ नहीं बनाया होगा। बिचारे भूखे होंगे।' ऐसा कह कर आँचल के छोर से आँखों को पोंछने लगतीं। इधर बेटी की कच्ची गृहस्थी और उधर पति का अकेलापन... नानी दोनों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का पूरा प्रयास करतीं पर कभी-कभी जब असफल हो जातीं तो रो पड़ती थीं। एक बार किसी से उन्हें पता चल गया था कि नाना को बुख़ार हो रहा है। बस फिर क्या था? नानी ने भी अन्न-जल त्याग दिया था। मम्मी के स्कूल से आते ही कहा था, 'बिटिया! तुम्हारे पिताजी को बुख़ार आ रहा है। यह सोच कर यहाँ ख़बर नहीं भेजी होगी कि तुम अकेले में परेशान हो जाओगी। दूबे जी आये हैं कल वहाँ से, वे बता रहे थे कि मेहा के नानाजी को बुख़ार आ रहा है। ऐसा करती हूँ कि मेहा और अनुभा को भी वहाँ ले जाती हूँ। तीन-चार दिन की स्कूल की छुट्टी करा दो इनकी। नर्सरी-के.जी. की पढ़ाई है अभी तो।'

तुम आराम से जाओ माँ! मैं तीन-चार दिन की छुट्टी ले लूँगी। वहाँ

तुम पिताजी को देखोगी कि इन्हें सँभालोगी। परेशान करके रख देंगी तुम्हें।' माँ ने कहा था।

'अरे नहीं बिटिया! कोई परेशानी नहीं होगी इनसे। ये दोनों तो हमारा भी मन लगाये रखती हैं।' ऐसा कह कर नानी ने प्यार से उन्हें अपनी बाँहों में समेट लिया था। उसी दिन वे हम दोनों को लेकर, बस में बैठ कर नाना के पास पहुँच गयी थीं। नाना ने जब उन्हें देखा था तो उनकी आँखों की चमक बढ़ गयी थी पर नानी से यही कहा था, 'क्यों परेशान हुई हो यहाँ आकर? एक-दो दिन में अपने-आप तबीयत ठीक हो जाती।' नानी ने कुछ नहीं कहा था, चुपचाप अपने कामों में लग गयी थीं। उनकी सेवा से नाना बहुत जल्दी स्वस्थ हो गये थे।

परीक्षा के दिनों में कई बार मम्मी की दो-दो पारियों में ड्यूटी लग जाती थी। मम्मी सुबह छः बजे घर से निकलतीं और शाम तीन बजे तक आ पाती थीं। नानी पहले मम्मी को नाश्ता-खाना बना कर देतीं फिर हम दोनों की तैयारी में लग जातीं थीं। सात बजे उसका और मेहा दी का रिक्शा आ जाता था। माथे पर बड़ी सी लाल बिन्दी लगाये नानी माँ बहुत सुन्दर लगती थीं। उसने कभी उन्हें ग़ुस्सा करते नहीं देखा था। मेहा दी रसोई में खड़े होकर तरह-तरह की फ़रमाइशें करती रहतीं और नानी माँ बहुत ही शान्त मुस्कुराहट से सारी फ़रमाइशें पूरी करतीं। पापा की सारी ज़रूरतों का ध्यान रखतीं। ख़ाली क्षणों में उन्हें नाना का ध्यान आ जाता। उसने कई बार पूछा भी था, 'नानी माँ! नाना क्यों नहीं आ जाते यहाँ। वहाँ अकेले रहते हैं।' भीगी आँखों से कहतीं, 'इतना बड़ा घर है बिटिया, उसकी देखभाल कौन करेगा वहाँ? दो-दो गायें हैं और फिर मेरी तो ज़रूरत है यहाँ। वे क्या करेंगे यहाँ आकर?' नानी की भाग-दौड़ उसे आज भी याद है। जब मम्मी की छुट्टियाँ होतीं तो नाना के पास चली जातीं। वहाँ जाकर पूरे घर की सफ़ाई करतीं। नाना के लिए साँकें बना कर रखतीं। उनके सारे कपड़े धोकर रखतीं। इधर मम्मी के स्कूल खुलने का दिन आता और उधर नानी की कंडी तैयार हो जाती। दो धोतियों से अधिक कभी नहीं रखती थीं। नाना बस में बैठाने आते थे। उसने कई बार नाना के चेहरे पर तैरती पीड़ा की लकीरों को महसूस किया था। नानी माँ बड़ी सफ़ाई से आँसुओं को पीकर कहतीं, 'अपना ध्यान रखना माला के बाबू।

भूखे मत रहा करो। और कुछ नहीं तो कम-से-कम दलिया या खिचड़ी तो बना ही लिया करो। दलिया भून कर रख दिया है। दाल-चावल बीन कर रख दिये हैं।'

'हाँ-हाँ, सब बना लेंगे हम। तुम हमारी चिन्ता मत करा करो माला की अम्मा। मन लगा कर वहाँ रहा करो। और देखो! माला तो नौकरी पर चली जाती है। अनुभा और मेहा का पूरा ध्यान रखना। रात को इनके पैरों की मालिश भी कर दिया करना। दिन भर खेलती-कूदती हैं। थक जाती होंगी।' नाना-नानी माँ को हिदायतें देते रहते। कई बार तो वह भी साथ होती थी। बस चलते ही नानी माँ का ऊपर से कठोर बना हृदय पिघल पड़ता और वे एक बार भी नाना को पीछे मुड़ कर नहीं देखती थीं। उनका रोज़ का नियम था कि रात होते ही उसे और मेहा दी को कहानियाँ सुनाती जातीं और मालिश करती जातीं। उन दोनों के बाद मम्मी की बारी आ जाती। मम्मी के बहुत मना करने के बाद भी पैर दबाती रहतीं और कहतीं, 'सुबह से घर से निकलती हो बिटिया। वहाँ भी खड़े-खड़े पढ़ाती हो। थोड़ी देर दबा दूँगी तो सारी थकान उतर जायेगी।' 'पर तुम भी तो सुबह से चरखी सी बनी रहती हो माँ। अब आराम कर लो।' मम्मी अपराध-बोध से ग्रस्त हो उठतीं।

'अरे नहीं बिटिया, मैं तो सारे दिन घर में ही रहती हूँ। अनु और मेहा को देख कर तो मेरी सारी थकान दूर हो जाती है।' नानी के मुलायम हाथों के दबाव से माँ को बहुत आराम मिलता था। उनकी सारी थकान पल-भर में दूर हो जाती थी।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। मेहा दी कुछ जल्दी ही समझदार हो गयी थीं। नाना का स्वास्थ्य भी ख़राब रहने लगा था। एक दिन नानी माँ ने दोनों को बुला कर समझाया था, 'मेहा बिटिया और अनुभा बिटिया! एक बात ध्यान से समझ लो। नाना की तबीयत ख़राब होने के कारण अब मैं उनके पास जा रही हूँ। तुम दोनों मम्मी को परेशान मत किया करना। मम्मी थक जाती हैं बिटिया! उनके साथ छोटे-छोटे काम कर दिया करना। गृहस्थी में ढेरों काम होते हैं। सारे कामों का बोझ मम्मी पर पड़ जायेगा तो थक जाया करेंगी वे भी। सुबह-शाम थोड़ी सी पूजा का नियम ज़रूर बनाये रखना।' जाने से पहले बेसन के लड्डू, मूँग की दाल के लड्डू,

नमक-पारे, मीठे सेल, नमकीन सेल, आलू के पापड़ और चिप्स बना कर रख गयी थीं। नानी के जाने के बाद जैसे घर की चहचहाहट ही चली गयी थी। धीरे-धीरे फिर सब सामान्य हो गया था। किसी छुट्टी में मम्मी-पापा उन दोनों को बस में बैठा देते थे और वे नानी-नाना से मिल आती थीं। मम्मी तो साल में एक-दो बार ही जा पाती थीं। नानी चली ज़रूर गयी थीं पर उस घर में, उन सबके मन में नानी हमेशा मौजूद रही थीं।

नाना का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा था। पापा ने भी उन्हें अपने पास बुलाने का बहुत आग्रह किया था पर नाना नहीं माने थे। नानी की सेवा भी नाना को ठीक नहीं कर पायी और भगवान् ने उन्हें अपने पास बुला लिया। नानी उस बड़े से घर में बिलकुल अकेली रह गयी थीं। उसने स्वयं नानी से कहा था, 'नानी माँ! अब तुम हमारे पास चल कर रहो। क्या करोगी यहाँ?' पापा-मम्मी सभी ने बहुत कहा पर उनके लिए नानी का एक ही उत्तर था, 'बिटिया! यह घर तुम्हारे बाबूजी ने बड़ी मेहनत से बनवाया था। भूखे-प्यासे धूप में खड़े रहते थे और ये श्यामा और गौरी तो उनकी जान थीं। कहते थे कि गौ माता की सेवा से बड़ा कोई पुण्य नहीं है। मैं अब इनकी सेवा करूँगी बेटा! अब तो अनुभा, मेहा भी बड़ी हो गयी हैं। मेरी ज़रूरत भी वहाँ नहीं है। अब तो बस यही इच्छा है कि प्राण निकलने के बाद ही इस देहरी को छोड़ूँ।'

देहरी के अन्दर का संसार नानी का बेहद अपना था। हर जगह स्मृतियों के अनगिनत दीप... और उन दीपकों के उजास में डूबी नानी माँ।

बेसन भुनने की ख़ुशबू तेज़ होती जा रही थी। नानी अकेली रसोई में बहुत देर से हैं, यह सोच कर अनुभा भी नीचे आ गयी। नानी का सारा घर चमचमा रहा था। धूल का कहीं नामोनिशान नहीं था। आँगन में लगे अमरूद के पेड़ के नीचे बिछी चारपाई पर अनुभा बैठ गयी। उसी चारपाई पर लेट कर नाना उसे झूझू लाले कराते थे और ढेर सारी कहानियाँ सुनाते थे। इसी आँगन में गर्मियों की शाम को नानी अँगीठी पर खाना बनाती थीं। जब कभी किसी छुट्टी में वह यहाँ नानी के साथ आती थी तो नाना के साथ पटरे पर बैठ कर खाना खाती थी। काँसे का कटोरा अनुभा को बहुत प्रिय था। इसी में वह दूध-रोटी खाती थी। नाना का बड़ा सा चित्र यहीं दिखायी दे रहा है। अनुभा को लगा कि नाना कह रहे हैं, 'माला की अम्मा! आज

बाजरे के पुए ज़रूर बनाना। अनुभा बिटिया को बहुत पसन्द हैं।' अनुभा की आँखें भर आयीं। एक-एक चीज़ में नाना से जुड़ी ढेर सारी यादें। आँखें चाहे बन्द रखो या खोलो, यादों के मेले में बार-बार मन भटकता जा रहा है। चन्दन घिसने वाला पत्थर उसी जगह रखा है। टीन का सन्दूक जिसमें से वे प्रायः उसे 'लेमन चूस' के लिए पैसे दिया करते थे, आज भी वहाँ रखा है। रसोई में छींका वहीं टँगा है जिस पर रोज़ शाम को नाना दूध का लोटा रखा करते थे। नानी का हाथ वहाँ नहीं पहुँचता था। रसोई में टाँड पर रखे अचार के मर्तबान भी नाना ही उतारते थे। कई बार हँस कर पूछते भी थे, 'मेरे बाद कैसे उतारा करोगी माला की अम्मा?' नानी उनके मुँह से ऐसी बात सुन कर नाराज़ हो जाती थीं, 'देखो जी! ऐसी बात मत किया करो माला के बाबू! कितनी बार मना किया है तुमसे। दिन-रात यही तो माँगती हूँ प्रभु से कि मेरा सुहाग बना रहे। तुमसे पहले मैं जाऊँ।' पता नहीं क्यों भगवान् जी ने भी नानी की प्रार्थना नहीं सुनी थी। शायद उन्हें भी पता था कि नानी टूटने के बाद भी जी लेंगी अकेले, पर नाना नहीं जी पायेंगे।

स्मृतियाँ ही स्मृतियाँ...। स्मृतियों के जंगल में मन-मृग भटकता ही जा रहा था। साँझ ढलने लगी थी। नानी माँ ने न जाने कब तुलसी के चौरे पर दीप भी जला दिया था। अनुभा को सब कुछ बड़ा ही पवित्र लग रहा था। दिल्ली की जगमगाती सड़कों और जगमगाती कोठियों में यह पवित्रता नहीं दिखायी देती। सादगी का अपना अलग ही सौन्दर्य होता है। 'डाइनिंग टेबल' पर चमचमाती 'क्रॉकरी' में खाना खाते समय वह स्वाद नहीं आता जो पटरे पर बैठ कर थाली में खाने में आता है। नानी थाली परस कर ले भी आयी थीं। कद्दू की खट्टी-मीठी सब्ज़ी, गोभी-आलू से आती गर्म मसाले की सुगन्ध, टमाटर-आलू से आती हरे धनिये की ख़ुशबू और चटनी देख कर अनुभा के मुँह में पानी आ गया। 'अरे नानी माँ! इतना सब कुछ अकेले ही बना लिया? मुझे बुला लेतीं।'

'बिटिया! आज बहुत दिन बाद मन से खाना बनाया है। जब से तुम्हारे नाना नहीं रहे, तब से तो बस सुबह ही शाम की भी दो रोटी सेंक कर रख लेती हूँ।'

'नानी! इस बार तो मैं तुम्हें अपने साथ लेकर ही जाऊँगी।' बड़े ही

लाड़ से उसने कहा।

नानी अपने हाथ से उसे खाना खिला रही थीं। उसकी बात सुन कर बोलीं, 'बिटिया! बेटी के घर जाकर बिना बात के रहना अच्छा नहीं लगता और फिर अब तो तुम लोग छुट्टियों में यहाँ आ जाया करो। माला का तो आना मुश्किल होता है। घर किस पर छोड़ कर आये? तुम्हारे पापा को भी खाने की परेशानी हो जाती है। तुम लोग आ जाया करो।' नानी के शब्दों में छिपा अनुरोध उनके अकेलेपन की पीड़ा को व्यक्त कर रहा था जिसमें अनुभा का मन भी भीगता जा रहा था।

'नानी! मन तो बहुत करता है आने का। पर कभी कोई परीक्षा तो कभी कोई...। आजकल की पढ़ाई कठिन होती जा रही है नानी।'

'हाँ बेटा। पढ़-लिख लोगी तो भविष्य अच्छा बन जायेगा। पढ़ाई छोड़ कर आने को तो मैं नहीं कहूँगी, पर बिटिया! एक बात ज़रूर ध्यान रखना ... चाहे दिल्ली रहो, चाहे बम्बई! अमरीका जाओ या और कहीं, अपनी संस्कृति को मत भूलना। दुनिया कितनी भी उन्नति कर ले बिटिया पर स्त्री का सबसे बड़ा धर्म तो अपनी गृहस्थी होता है। अपनी सन्तान को अच्छे संस्कार देने में ही जीवन की सार्थकता है। रुपया-पैसा, कार, कोठी, वैभव, विलासिता... सब यहीं छूट जाता है बिटिया! यह बात और है कि यह सब आज की ज़रूरतें हैं पर इन सबको पाने के साथ-साथ अपनी जड़ों से ज़रूर जुड़ी रहना।'

'नानी माँ! आप बिलकुल ठीक कह रही हैं। अब दिल्ली को ही देख लो! ऊँची-ऊँची इमारतें, जगमगाती रोशनियाँ, सारी सुख-सुविधाएँ... पर किसी के पास दो मिनट का समय नहीं है।'

'अधिक तो मैं नहीं जानती बेटा! पढ़ी-लिखी भी नहीं हूँ, पर इतना अवश्य जानती हूँ कि चकाचौंध में ज़्यादा नहीं पड़ना चाहिये। कभी-कभी टी.वी. खोल लेती हूँ, जो कुछ भी दिखाया जा रहा है, वह हमारी संस्कृति नहीं है बिटिया। हर स्त्री का पहला धर्म यह होना चाहिये कि वह अपने रीति-रिवाज, अपने संस्कार अपने बच्चों को दे। स्वयं भी उसका पालन करे। इस तरह पीढ़ी दर पीढ़ी हम अपनी संस्कृति को बचा सकते हैं। आजकल लोग दीवारें गन्दी हो जाने के डर से उन पर सीता-राम नहीं लिखते। दीवाली पर दीपक की जगह रंग-बिरंगी झालरों से घर सजाते हैं।

होली पर बाज़ार से बना-बनाया सामान ले आते हैं। अरे भई, कुछ तो ऐसा बचा रहे जो मन में भी उजास बिखेरता रहे, मिठास घोलता रहे। अब तुम्हीं बताओ बिटिया! आजकल लड़कियाँ और बहुएँ जीन्स पहनती हैं, छोटे-छोटे टॉप पहनती हैं। सुन्दरता तो ढकी-छिपी ही अपनी ओर खींचती है ना।' अनुभा के सामने अपने होस्टल की लड़कियाँ साकार हो उठीं! शालीनता और संकोच से दूर, स्वयं को सभ्य कहने वाली लड़कियाँ किसी को कुछ समझती ही नहीं हैं। विनम्रता तो उनके शब्दकोश में ही नहीं है शायद।

अनुभा नानी की गोदी में सिर रख कर लेट गयी। आसमान में टँगा चाँद बार-बार झुक-झुक कर नानी के आँगन को, तुलसी के चौरे को निहार रहा था। कभी-कभी नाना उससे कहा करते थे, 'बिटिया! चाँद में एक चरखा कातने वाली नानी रहती है। मुझे उससे मिलने जाना है।'

'आपके पास तो इतनी अच्छी नानी हैं! फिर आप दूसरी नानी के पास क्यों जायेंगे?' बाल-सुलभ जिज्ञासा से वह पूछती थी। 'बिटिया! इस धरती को कभी न कभी छोड़ कर ऊपर जाना ही पड़ता है चाँद-तारों के पास! यह तो भगवान् का बनाया नियम है बेटा।' नाना उसे मानसिक रूप से प्रकृति के शाश्वत नियमों से परिचित कराते रहते थे। अनुभा की आँखों में सावन घुमड़ आया था।

नानी प्यार से अनुभा के सिर पर हाथ फेरते हुए बोलीं, 'बिटिया! अन्दर चलो। अभी मौसम ठण्डा है।'

'नानी माँ! आज बहुत दिनों बाद आँगन में बिछी चारपाई पर तुम्हारी गोदी में लेटने का सुख मिला है। अन्दर जाने का मन नहीं हो रहा है।'

'कल दिन-भर धूप में आँगन में लेट लेना बिटिया! अभी अन्दर चलो। जब तुम छत पर थीं तो मैंने कुछ अचार, पापड़, चिप्स और नमकपारे, शक्करपारे तुम लोगों के लिए बाँध दिये थे। माला को भी दाल के पापड़ बहुत पसन्द हैं। लड्डू भी बन गये हैं, और कुछ इच्छा हो तो बता देना बिटिया।' बड़े लाड़ से नानी ने कहा था।

'नानी माँ! एक चीज़ चाहिये। दे सकोगी?'

'हाँ, हाँ! क्यों नहीं? बोलो, क्या चाहिये।' बड़े प्यार से चमक-भरी आँखों से नानी पूछ रही थीं।

'नानी! अपने अन्दर का थोड़ा-सा सन्तोष मुझे दे दो जिसे मैं आज

के आपा-धापीवाले समय में सहेज कर अपने पास रख सकूँ और हमेशा ख़ुश रह सकूँ। आज के समय में सबसे बड़ी कमी मुझे यही खलती है कि कोई भी सन्तुष्ट नहीं है। कहीं मैं भी महानगर में भटक न जाऊँ।' अनुभा को दिल्ली की भागती-दौड़ती ज़िन्दगी याद आने लगी।

'बिटिया! बस एक बात हमेशा के लिए गाँठ बाँध लो। अपने से ऊपर वाले को कभी मत देखो। हमेशा यह देखो कि कितने ऐसे भी हैं जिनके पास तुमसे कम है। तुम्हारे नाना बहुत सन्तोषी थे बिटिया! बहुत ही सादगी-भरा जीवन था उनका। तुम भी हमेशा भौतिकता के सन्दर्भ में अपने से नीचे वालों को देखना और सादगी, सिद्धान्त और आदर्शों में ऊपर वालों को...। अपनी माँ को ही देख लो! कितना सादगी-भरा जीवन है। अपनी संस्कृति, अपनी धरती, अपना देश बहुत सुन्दर है बिटिया। बस इन तीनों का सदा मान करना।' अनुभा को आश्चर्य हो रहा था कि नानी कितनी अच्छी और सार्थक बातें करती हैं। कौन कह सकता है कि नानी पढ़ी-लिखी नहीं हैं।

नानी की आँखें झपकने लगी थीं। दिन-भर कुछ-न-कुछ बनाती रही थीं। अनुभा को बहुत शान्ति का अनुभव हो रहा था। लेटे-लेटे अचानक ही उसकी दृष्टि नानी के पूजा-घर पर चली गयी। मानस और गीता वहीं रखी हुई हैं। नाना रोज़ पढ़ते थे। नानी को भी अपने पास बैठा लेते थे। अनुभा ने मन ही मन ठाकुरजी को प्रणाम किया और फिर नानी का कम्बल उठा कर स्वयं भी उनके पास लेट गयी। आँगन में चाँदनी झर रही थी। जगह-जगह से चूना झड़ी दीवारें शुभ्र चाँदनी में डूबी हुई अनुभा को बेहद आत्मीय प्रतीत हो रही थीं। काश! इस आँगन की आत्मीय मिठास उसके अन्दर हमेशा-हमेशा के लिए बस कर रह जाये जिसमें डूब कर वह भविष्य की चुनौतियों का सामना कर सके।

—'कत्यूरी मानसरोवर' से साभार

—डॉ. सविता मिश्रा

'उजाले अपनी यादों के हमारे साथ रहने दो
न जाने किस गली में ज़िन्दगी की शाम हो जाये।'

काम में व्यवस्था और सामञ्जस्य होना चाहिये। एकदम नगण्य दीखने वाली चीज़ भी सम्पूर्ण पूर्णता, शुद्धि, सौन्दर्य, सामञ्जस्य और व्यवस्था के साथ करनी चाहिये।

काम के लिए स्थिरता और नियमितता उतनी ही ज़रूरी हैं जितनी पटुता। तुम जो कुछ करो हमेशा सावधानी से करो।

श्रीमाँ

शुभ कामनाओं सहित

श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,
जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)
www.aurosocietyrajasthan.org

Sri Aurobindo Society
INDORE BRANCH
Creating the Next Future

विनम्र अनुरोध

'श्री अरविन्द-विश्व-निलयम्' नव-निर्माण हेतु

आदि शक्ति मां भगवती एवं परम प्रभु की असीम कृपा और आशीर्वाद से श्री अरविन्द सोसायटी पुदुचेरी शाखा इन्दौर द्वारा एअरपोर्ट के निकट सर्वे क्रमांक 126/8, छोटा बांगड़दा में अपने स्वामित्व की 13,495 वर्गफीट भूमि पर दिव्य समाज निर्माण की आध्यात्मिक गतिविधियों के संचालन हेतु एक शक्तिपीठ पूर्ण योग साधना एवं ध्यान केन्द्र श्री अरविन्द–विश्व– निलयम् के नव–निर्माण का कार्य 25 जनवरी 2021 से शुभारंभ हो चुका है।

आपको यह सूचित करते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है कि उक्त वृहद् कार्य –निर्माण के प्रथम चरण में तल मंजिल, प्रथम मंजिल एवं द्वितीय मंजिल जिसमें सर्व सुविधा युक्त हॉल, श्री माँ – श्री अरविन्द के दिव्य – ग्रन्थों की लायब्रेरी, अतिथि –कक्ष, किचन, डाइनिंग हॉल तथा एक रमणीय उद्यान में श्री अरविंद के दिव्य – देहांश की प्रतिष्ठा हेतु समाधि स्थल के निर्माण का लक्ष्य है। भविष्य में इसे विस्तार देने की योजना है।

इस दिव्य निर्माण कार्य की अनुमानित लागत 2.5 करोड़ रूपये है। यह कार्य सभी के सहयोग तथा सामूहिक प्रयास से ही संभव हो सकता है। आपके द्वारा दी गई दान–राशि को आयकर अधिनियम की धारा 80(G) के अंतर्गत छूट की सुविधा है।

आपकी दान–राशि ''श्री अरविन्द सोसायटी इन्दौर'' के नाम से Cash /Cheque /DD/ NEFT/ RTGS में स्वीकार कर रसीद प्रदान की जाएगी। आपका आर्थिक सहयोग इस दिव्य कार्य को गति प्रदान करेगा ।

निवेदक

चेअरपर्सन
डॉ.सुमन कोचर
sumankocher@rediffmail.com

सेक्रेटरी
मनोज कियावत
mkiyawat@gmail.com

Branch Office: 541, M. G. Road, Gorakund, OPP. ICICI Bank, Indore (M. P.) – 452 002
Phone: 0731- 2452500, Mob: 9826067685 ,9826066520
Email: sasindore@aurosociety.org, Website: www.sriaurobindosocietyindore.com
Head Office: Puducherry – 605 001, Website: www.aurosociety.org

आप QR कोड स्केन करके भी डोनेशन कर सकते हैं।

Bank Details –
A/C Name - Sri Aurobindo Society Indore
SB A/C No.- 0325101016104
Bank Name – Canara Bank
Branch – M. G. Road Indore – 2 (M.P.)
IFSC Code - CNRB0000325

SRI AUROBINDO SOCIETY INDORE

Date of Publication: 1st November 2022
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70

150 Birth Anniversary Sri Aurobindo

Azadi Ka Amrit Mahotsav

Scan for English

Scan for Hindi

THE TRANSFORMATION

A documentary on Sri Aurobindo,
who was considered the mastermind
by the British, for inspiring our leaders
to fight for independence.

नया जन्म

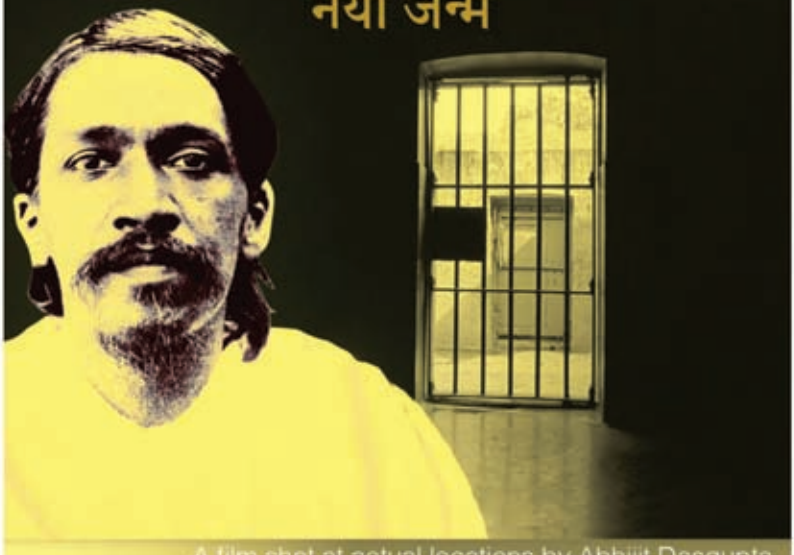

A film shot at actual locations by Abhijit Dasgupta

the film is produced by

Sri Aurobindo Society
Creating the Next Future

in collaboration with

Kolkata Sukriti Foundation
Reach the Unreached

watch on https://www.youtube.com/user/aurosocietypondy